निबन्ध और चरित्र

२३८

लेखक
शादीराम जोशी एम. ए.
कन्या-महाविद्यालय, जालंधर

प्रकाशक
मेहरचंद्र लक्ष्मणदास
गली नन्हेखां, कूचा चेलां,
दरियागंज, दिल्ली।

८१४.८
शादी।नि

मूल्य २)

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, पुस्तकालय
इलाहाबाद

वर्ग संख्या ८९४.८

पुस्तक संख्या शार्दा नि

क्रम संख्या 6420

निबन्ध और चरित्र

डा० [illegible]-संग्रह

लेखक

शादीराम जोशी एम. ए.

कन्या-महाविद्यालय, जालंधर

प्रकाशक

मेहरचन्द लछमणदास

संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता

गली नन्हेखां; कूचा चेलां,

दरियागंज, दिल्ली।

प्रकाशक
लाला खजानचीराम जैन, मैनेजिंग प्रोप्राइटर, मेहरचंद लछमणदास, संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता, गली नन्हेखां, कूचा चेलां, फ़ैज़ बाजार, दिल्ली।

इस पुस्तक के सर्वाधिकार प्रकाशकों के अधीन हैं।

मुद्रक
लाला ओम प्रकाश
नरेन्द्र प्रिंटिंग
कार्ट रोड, शि

भूमिका

'निबंध और चरित्र' नाम की इस पुस्तक में, जैसा कि नाम ही से स्पष्ट है, कुछ जीवनियां हैं और कुछ निबंध।

इतिहास के आदि-काल से भारत-भूमि ने समय २ पर अनेक नर-रत्नों को जन्म दिया है, जिनकी स्मृति मानव के हृदय-पट से कभी मिट नहीं सकती और भारत के आधुनिक जागरण-काल में तो यहां ऐसे २ महान् व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं कि संसार देखकर चकित है। ऐसी अवस्था में, एक छोटी सी पुस्तक में, दो-चार ही जीवनियां देना अभिप्रेत हो, किस महापुरुष को स्थान दिया जाय और किस को नहीं; यह निश्चय करना लेखक के लिए कठिन है। रत्नों की निधि में से किस रत्न को उठाया जाय और किस को छोड़ दिया जाय? परन्तु संगृहीत रत्नों की संख्या पर भी तो प्रतिबंध है।

पंजाब-केसरी ला० लाजपतराय को तो कैसे छोड़ा जा सकता था! पंजाब प्रांत के निर्माताओं में उनका विशेष स्थान है। पंजाब के सामाजिक, शिक्षा सम्बन्धी तथा राजनीतिक कार्य में लाला जी का व्यक्तित्व एक गहरी छाप छोड़ गया है। अपने समय के अखिल भारतीय नेताओं में सम्मान्य पद प्राप्त करके लाला जी ने पंजाब का मस्तक ऊंचा किया।

कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ टैगोर भारत की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रतिभा के मानो अवतार थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय आदर्शों

को आधुनिक समय के अनुकूल सजीव तथा ललित रूप में संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया। संसार ने कदाचित् आज तक ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा को उत्पन्न नहीं किया था। साहित्य का कौनसा अंग है जिसे उनकी प्रतिभा ने स्पर्श करके विश्व-साहित्य का स्थान नहीं दे दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने जो शिक्षा-संस्था हमारे लिए छोड़ी है, वह अपने नाम के अनुसार भारत और विश्व की संस्कृतियों का मिलन-स्थान बनने जा रही है। जिन महापुरुषों के कारण देश-देशांतरों में भारत का नाम उज्ज्वल हुआ, उनमें एक हमारे कवि-सम्राट् हैं।

भारत-कोकिला, सरोजिनी नायडू, अपने साहित्यिक तथा राजनीतिक व्यक्तित्व के अतिरिक्त, आधुनिक भारत में स्त्री-जाति के जागरण की प्रतीक हैं। शताब्दियों से मूकावस्था में पड़ी भारतीय स्त्री ने सरोजिनी के रूप में दिव्य और ओजपूर्ण वाणी को प्राप्त किया। परदों में लिपटी और चौके में घुसी स्त्री-जाति को राष्ट्रीय मंच पर पुरुष के समकक्ष ला खड़ा करना सरोजिनी ही का काम था।

स्वामी दयानंद तो भारतीय संस्कृति की जड़, वेद को अपनी विद्या और प्रतिभा के, अपने उत्साह और पौरुष के, जल से सींचने वाले हैं। उनकी दिव्य दृष्टि भारत के अतीत में बहुत दूर तक पहुंची थी और उन्होंने इस देश के पतन का मूल कारण प्राचीन वैदिक आदर्शों के विस्मरण तथा लोप में देखा था।

अब निबंधों को लीजिए। 'भारत और संसार' शीर्षक निबंध में प्राचीन भारत के आदर्शों का, भारतीय संस्कृति के अन्य देशों को

आप्लावित करने का तथा पाश्चात्य संस्कृति के साथ आधुनिक संघर्ष तथा समन्वय का उल्लेख है, और भारत के उज्ज्वल भविष्य की एक झलक है।

गोस्वामी तुलसीदास तो हिंदी साहित्य के आकाश में कदाचित् सर्वातिशायी नक्षत्र हैं। भारत की मध्यकालीन प्रतिभा, पराधीन देश की आशा, गोस्वामी जी की कविता के रूप में परिस्फुटित हुई। 'रामचरित-मानस' भारतीय जीवन में ओतप्रोत है, राम की कथा और वह भी तुलसीदास के मुख से, भारतीय संस्कृति का आधार है।

काश्मीर भारत के प्राकृतिक सौंदर्य का प्रतीक है, भारत की शस्यश्यामला भूमि के सिर का मुकुट है। इसी प्रदेश को पृथ्वी पर स्थित स्वर्ग कहा गया है और ठीक ही कहा गया है।

अतः सारी पुस्तक में भारत की भिन्न २ विभूतियों का वर्णन है जिस से पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के अतिरिक्त उन के हृदयों में मातृ-भूमि के लिए, भारतीय संस्कृति के लिए, राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए, श्रद्धा और प्रेम के भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

भाषा को परिमार्जित और सुसंस्कृत रखा गया है। साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया गया है। भाषा के प्रवाह पर विशेष ध्यान दिया गया है। अस्तु, ये बातें स्वयं हमारे कहने की नहीं हैं। पाठक देख लेंगे। हां, हम ने प्रयत्न अवश्य किया है। सफलता के विषय में सहृदय पाठक निर्णय देंगे।

शादीराम जोशी

को आधुनिक समय के अनुकूल सजीव तथा ललित रूप में संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया। संसार ने कदाचित् आज तक ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा को उत्पन्न नहीं किया था। साहित्य का कौनसा अंग है जिसे उनकी प्रतिभा ने स्पर्श करके विश्व-साहित्य का स्थान नहीं दे दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने जो शिक्षा-संस्था हमारे लिए छोड़ी है, वह अपने नाम के अनुसार भारत और विश्व की संस्कृतियों का मिलन-स्थान बनने जा रही है। जिन महापुरुषों के कारण देश-देशांतरों में भारत का नाम उज्ज्वल हुआ, उनमें एक हमारे कवि-सम्राट् हैं।

भारत-कोकिला, सरोजिनी नायडू, अपने साहित्यिक तथा राजनीतिक व्यक्तित्व के अतिरिक्त, आधुनिक भारत में स्त्री-जाति के जागरण की प्रतीक हैं। शताब्दियों से मूकावस्था में पड़ी भारतीय स्त्री ने सरोजिनी के रूप में दिव्य और ओजपूर्ण वाणी को प्राप्त किया। परदों में लिपटी और चौके में घुसी स्त्री-जाति को राष्ट्रीय मंच पर पुरुष के समकक्ष ला खड़ा करना सरोजिनी ही का काम था।

स्वामी दयानंद तो भारतीय संस्कृति की जड़, वेद को अपनी विद्या और प्रतिभा के, अपने उत्साह और पौरुष के, जल से सींचने वाले हैं। उनकी दिव्य दृष्टि भारत के अतीत में बहुत दूर तक पहुंची थी और उन्होंने इस देश के पतन का मूल कारण प्राचीन वैदिक आदर्शों के विस्मरण तथा लोप में देखा था।

अब निबंधों को लीजिए। 'भारत और संसार' शीर्षक निबंध में प्राचीन भारत के आदर्शों का, भारतीय संस्कृति के अन्य देशों को

आप्लावित करने का तथा पाश्चात्य संस्कृति के साथ आधुनिक संघर्ष तथा समन्वय का उल्लेख है, और भारत के उज्ज्वल भविष्य की एक झलक है।

गोस्वामी तुलसीदास तो हिंदी साहित्य के आकाश में कदाचित् सर्वातिशायी नक्षत्र हैं। भारत की मध्यकालीन प्रतिभा, पराधीन देश की आशा, गोस्वामी जी की कविता के रूप में परिस्फुटित हुई। 'रामचरित-मानस' भारतीय जीवन में ओतप्रोत है, राम की कथा और वह भी तुलसीदास के मुख से, भारतीय संस्कृति का आधार है।

काश्मीर भारत के प्राकृतिक सौंदर्य का प्रतीक है, भारत की शस्यश्यामला भूमि के सिर का मुकुट है। इसी प्रदेश को पृथ्वी पर स्थित स्वर्ग कहा गया है और ठीक ही कहा गया है।

अतः सारी पुस्तक में भारत की भिन्न २ विभूतियों का वर्णन है जिस से पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के अतिरिक्त उन के हृदयों में मातृ-भूमि के लिए, भारतीय संस्कृति के लिए, राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए, श्रद्धा और प्रेम के भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

भाषा को परिमार्जित और सुसंस्कृत रखा गया है। साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया गया है। भाषा के प्रवाह पर विशेष ध्यान दिया गया है। अस्तु, ये बातें स्वयं हमारे कहने की नहीं हैं। पाठक देख लेंगे। हां, हम ने प्रयत्न अवश्य किया है। सफलता के विषय में सहृदय पाठक निर्णय देंगे।

शादीराम जोशी

सूची

पंजाब-केसरी ला० लाजपतराय ।

लाहौर के गोलबाग में, टाऊन हाल के सामने, एक ऊंचे मर्मरोपल-निर्मित स्तम्भतल पर एक मझोले कद के मनुष्य की मूर्ति स्थापित थी। तन कर खड़ी मूर्ति का दायां हाथ, मानों ललकार कर कुछ कहने के लिए, ऊपर उठा था। नीचे के स्तम्भ-तल पर कुछ चित्र थे, जिन में एक बच्चे का चित्र भी था जो अपनी माता की उंगली पकड़े ऊपर की ओर देखकर माता से पूछता है कि 'यह कौन है ?' माता के मुख के आगे अंकित था—'पंचनद-पंचानन'। देश के विभाजन से पहले, जब वहां हिंदू जनता का भी निवास था, वह मूर्ति एक तीर्थ-स्थान के समान थी। बाहिर से लाहौर जाने वाले हिंदुओं के लिए, बहुत से मुसलमानों के लिए भी, वह एक देखने की चीज थी। बहुधा देखा जाता था कि दर्शनार्थ आए हुए लोगों के बच्चे, अपने माता पिता से, वह प्रश्न पूछते थे जो कलाकार ने स्तम्भतल पर अंकित बच्चे के मुख से पुछवाया था। आज लाहौर का वह स्थान सूना होगा या उस स्थान पर कुछ और होगा क्योंकि देश के परिवर्तित वातावरण में उस मूर्ति को लाहौर से शिमला लाना ही उचित समझा गया। कदाचित आज उस पर्वतीय नगर के बच्चों के हृदय में भी वीर-मुद्रा-विभूषित उस मूर्ति को देखकर वही स्वाभाविक प्रश्न उठता होगा। इस लेख में आज हम उसी प्रश्न का

उत्तर देने जा रहे हैं।

पंजाब प्रांत को ठीक ही किसी ने भारत का खड्गधारी हस्त कहा है। इतिहास की ज्योति काल के अंधकार और धुंदलेपन को चीरती हुई प्राचीनता की जिस सीमा तक पहुंचती है, वहीं हमें भारत का यह पश्चिमोत्तरीय प्रदेश आक्रमणकारियों के आक्रमणों को अपने वज्र-वक्षस्थल पर झेलता हुआ दीख पड़ता है। योरुप के लोगों के अतिरिक्त जो आक्रमणकारी भी भारत में आया, उसका प्रतिरोध पहले पंजाब ने किया। बाहिर से आने वाले कुछ लोग तो पंजाब से पराजित होकर लौट गए और कुछ पंजाब की जनता में विलीन हो गए और देश के अंग बन गए। परन्तु उन बाहिर से आने वालों में मुसलमान आक्रमणकारी ऐसे थे जो न तो पराजित होकर लौटे और न इस देश की जनता में विलीन हो सके। उनके आक्रमणों के समय भारत की पुरानी वीरता और एकता नष्ट हो चुकी थी। भारत के लिए लम्बी शताब्दियों की दासता का युग आरम्भ हो गया था। मुस्लिम राज्य का प्रातःकाल हुआ, मध्याह्नकाल हुआ और अंततः सायंकाल हुआ। उस समय के इतिहास को पढ़ते हुए कई स्थलों पर भारत की पराधीनता के स्वाधीनता में परिवर्तित होने के अवसर दिखाई देते हैं परन्तु विधाता ने कुछ और विधान विहित कर रखा था। अंग्रेजी राज्य का सूर्योदय होता है और कुछ देर में प्रातःकाल मध्याह्न-काल में परिणत हो जाता है। भारत शताब्दियों की गहन निद्रा में सुप्त कभी २ निद्रा या अर्धचेतना में स्वाधीनता के कुछ शब्द बुड़बुड़ा कर, पुनः २ मूक

हो जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी आ पहुंचती है। देश में सन् सत्तावन की आग भड़कती है परन्तु बहुत कुछ भस्मसात् करके बुझ जाती है। सभी ओर निराशा का अंधकार फैल जाता है। राजस्थान और महाराष्ट्र की शक्तियों से कोई आशा नहीं रहती और पंजाब की सिख शक्ति भी समाप्त हो जाती है। क्या सदा की पराधीनता भारत के भाग्य में ही बंधी है ?

नहीं, समय बदलने वाला है। जागरण के चिन्ह दिखाई देने लगते हैं। भारत की सुप्त शक्तियां जागृति की अंगड़ाई लेती हैं। स्वतंत्रता का बीज स्फुटित होता है। भारत में एक सांस्कृतिक चेतना उद्भूत होती है। बंगाल में राजा राममोहन राय, महर्षि देवेंद्रनाथ, रामकृष्ण परमहंस आदि महापुरुष जन्म लेते हैं और गुजराती में स्वामी दयानंद सरस्वती का जन्म होता है। ये महापुरुष अपने २ ढंग से देश के पुनरुत्थान की नींव डालते हैं और अपने २ दृष्टिकोण से देश की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। हम ने यहां स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा प्रवर्तित आंदोलन पर कुछ कहना है क्योंकि उसी आंदोलन से प्रभावित होकर पंचनद-पंचानन, हमारे पंजाब-केसरी ला० लाजपतराय कार्यक्षेत्र में आए, और तत्पश्चात् राजनीति के क्षेत्र में जा कर भी, वे उस आंदोलन के प्रभाव को अपने में से निराकृत न कर सके।

स्वामी दयानंद सरस्वती, गुजरात के जैन-धर्म-प्रधान प्रदेश में और अध्ययनाध्यापन-प्रवृत्त ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए परन्तु उनके अंदर क्षत्रियोचित वीरता और तीक्ष्णता का बाहुल्य

था। प्रकृति से या अनुभव से वे गुजरात की अपेक्षा पंजाब के निकटतर थे। आर्यसमाज रूपी वृक्ष को उन्होंने पहले अपने प्रांत ही में आरोपित किया परंतु वहां का जल-वायु उसे रास न आया और वह मुर्झा गया। वही पौदा जब पंजाब की वीर-रक्त-रञ्जित भूमि में लगाया गया तो दिन-दूना और रात-चौगुना बढ़ने लगा। स्वामी जी ने देश को प्राचीन वैदिक संस्कृति से जीवन-ज्योति ग्रहण करने का संदेश दिया। उन्हों ने बताया कि देश की अवनति का कारण वे सब बुराइयां हैं जिनका उद्भव वेद की शिक्षा को तिलांजलि देने से हुआ। उन्होंने देखा कि क्रोड़ों वैदिक धर्मावलम्बी पराधीनता की शताब्दियों में मुस्लिम धर्म को अपना चुके हैं. हजारों और लाखों अब भी इस्लाम और ईसाई धर्म की ओर बढ़े जा रहे हैं, क्रोड़ों जाति के अंग अछूत नाम से पद-दलित होकर निर्जीव हो रहे हैं, स्त्री जाति अंधकार और अपमान के गर्त्त में गिरी है, देश में शिक्षा का और विशेषतः राष्ट्रीय शिक्षा का अभाव है और प्राचीन वर्णाश्रम धर्म का उच्चादर्श लुप्त होकर जातपात का भयानक रूप सब ओर व्यापक है। इस दृष्टिकोण से भारत के उद्धार के उद्देश्य से सामूहिक प्रयत्न करने के लिए स्वामी दयानंद ने आर्य-समाज की स्थापना की और आर्यसमाज के कार्य का केंद्र बना—पंजाब। १८७७ ई० में लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई। आर्यसमाज के आंदोलन के उस अरुणोदय-काल में हम देखते हैं कि कार्यकर्त्ताओं में कालिज के तीन विद्यार्थी भी हैं जिन में एक हैं—हमारे इस लेख के नायक लाजपतराय और दूसरे दो हैं—गुरुदत्त

और हंसराज यहीं से हमारे भावी पंजाब केसरी का सार्वजनिक जीवन आरम्भ होता है।

लालाजी के परिवार का निवास-स्थान पंजाब के लुधियाना ज़िला में जगरांव था परन्तु उनका जन्म उनके ननिहाल में हुआ था। इनके पिता कट्टर जैन थे। पिता ला० राधाकृष्ण नौकरी में थे और कई स्थानों पर रहे। नवयुवक लाजपतराय ने १८८०ई० में पन्द्रह बरस की आयु में अम्बाला से एंट्रैंस की परीक्षा पास की और वे लाहौर में उच्च शिक्षा के लिए गए। कालिज में पढ़ते हुए उन्हों ने मुख्तारी की परीक्षा भी पास कर ली और वे जगरांव में काम करने लगे। १८८५ ई० में वकालत की परीक्षा पास की और १८८६ ई० में हिसार में वकालत करने लगे। १८९२ ई० में आप मित्रों के अनुरोध से लाहौर में आकर वकालत करने लगे। स्वामी दयानंद की मृत्यु के पश्चात् उनके स्मारक के रूप में १८८६ ई० में डी० ए० वी० कालिज की स्थापना हो चुकी थी और लाला जी वकालत के काम से पर्याप्त समय बचाकर आर्यसमाज और डी० ए० वी० कालिज के काम के लिए देते थे।

आरम्भ ही से लाला जी को सार्वजनिक सेवा के प्रति आकर्षण था। हिसार में वकालत करते हुए वे वहां की म्यूनिसिपल कमेटी के अवैतनिक मंत्री थे। वहां पर हुई एक घटना से लाला जी के चरित्र पर विशेष प्रकाश पड़ता है। एक बार वहां हिसार में पंजाब के लाट साहिब के आगमन का कार्यक्रम था और उन्हें म्यूनिसिपल कमेटी की ओर से अभिनंदन पत्र दिया जाना था। म्यूनिसिपल कमेटी के प्रधान वहां के डिप्टी कमिश्नर

एक अंग्रेज थे जो चाहते थे कि अभिनंदन-पत्र अङ्गरेजी में हो ताकि वे स्वयं लिखें और प्रस्तुत करें और जनता की कठिनाइयों का वर्णन न कर साधारण प्रशंसात्मक बातें कह दें। परन्तु लाला लाजपतराय का आग्रह था कि अभिनंदन-पत्र उर्दू में हो जिसे वे स्वयं लिखें और प्रस्तुत करें और जिस में वे जनता के भावों का समावेश कर सकें। कुछ संघर्ष के पश्चात् लाला जी की बात स्वीकृत की जानी पड़ी।

लाहौर में रहते हुए वे चिरकाल तक डी० ए० वी० कालिज कमेटी के अवैतनिक मंत्री और तत्पश्चात् उपप्रधान रहे। कुछ समय के लिए उन्होंने कालिज में शिक्षण-कार्य भी किया। शिक्षण-कार्य में उनको स्वाभाविक रुचि थी। १९०५ ई० में वे अमेरिका की शिक्षण-संस्थाओं को देखने के लिए उस देश में गए। वहां से लौटकर उन्होंने शिक्षा पर पुस्तकें लिखीं। अंग्रेजी राज्य के स्थापित हो जाने से सरकार को ऐसे हिंदुस्तानियों की आवश्यकता थी जो अंग्रेजी की शिक्षा पाकर उन छोटी-मोटी आसामियों पर आरूढ़ हो सकें जिन के लिए विलायत से अंग्रेज नहीं लाए जा सकते थे। इस उद्देश्य से सरकार ने अपने स्कूल कालिज खोले थे और ईसाई मिशनों को स्कूल और कालिज खोलने के लिए प्रोत्साहित किया था। आर्थिक उन्नति के इस स्वाभाविक प्रलोभन से आकर्षित हो, समूह के समूह भारतीय नवयुवक स्कूलों और कालिजों में भरती हो रहे थे। उन शिक्षा-संस्थाओं में शिक्षा पाकर नवयुवक बहुधा ईसाई धर्म के प्रशंसक और हिंदू संस्कृति के निंदक बन जाते थे। इस अवस्था को देखकर

आर्यसमाज ने डी० ए० वी० कालिज के रूप में एक ऐसे प्रयत्न का आरम्भ किया था जिस से नवयुवकों को यह पाश्चात्य शिक्षा तो मिले, परंतु साथ ही हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति के प्रति उन की श्रद्धा बनी रहे। इस प्रयत्न में ला० लाजपतराय का मुख्य हाथ था।

लाला जी के अंतःकरण में दुखियों के दुख को देखकर द्रवित हो उठने वाला हृदय था। १८९६ ई० में उत्तर भारत में और १८९९ में राजपूताना में जब भीषण दुर्भिक्ष पड़े, तो बुभुक्षा-पीड़ित भारतीय जनता त्राहि त्राहि करती हुई मृत्यु के गाल में जाने लगी। कितने ही माता-पिताओं ने अपने हृदय के टुकड़ों को बेच डाला, कितनी ही सती साध्वी देवियों ने अपनी लज्जा को तिलांजलि दे दी, काल-भगवान् का तांडव-नृत्य होने लगा। उस समय आर्यसमाज की ओर से ला० लाजपतराय ने अकाल-पीड़ित जनता की सहायता का बीड़ा उठाया। स्थान २ पर घूम कर उन्होंने धन-संग्रह किया और साहाय्य-केंद्र खोले। दुर्भिक्ष के परिणाम-स्वरूप अनाथ होने वाले बच्चों के लिए अनाथालय स्थापित किए गए। तत्पश्चात् जब कांगड़े के भूचाल से बहुत विनाश हुआ तो पीड़ितों की सहायता के लिए महाप्रयत्न किया गया। उस प्रयत्न की आत्मा भी ला० लाजपतराय थे। १९०७-८ ई० में जब उड़ीसा, मध्य प्रदेश और संयुक्त प्रांत में अकाल पड़ा तो भी लाला जी ने कष्ट-निवारण-कार्य में विशेष भाग लिया। १९०५ ई० में उन्हों ने आर्यसमाज की ओर से एक सहायक-समिति का संगठन किया जो आजकल की सेवा-

समिति के समान थी।

आर्य समाज का एक आवश्यक कार्य था अछूतोद्धार, दलितोत्थान। इस काम में भी लाला जी ने अग्रणी का काम किया। भारत के दुर्भाग्य से छूताछात का रोग भारत को क्षय-रोग के समान खाए जा रहा था। इस रोग के समूल विनाश के लिए जो भगीरथ प्रयत्न पश्चात् गांधी जी ने किया उसका आरम्भ स्वामी दयानंद और आर्य समाज के कुशल हाथों से हो चुका था। अछूतोद्धार के कार्य के निमित्त लाला जी ने उत्तरीय भारत के कई बड़े २ नगरों का भ्रमण किया और वहां इस विषय पर व्याख्यान दिये। १६१२ ई० में गुरुकुल कांगड़ी में हुए अछूतोद्धार-सम्मेलन के सभापति आप ही थे। इस काम के लिए उन्होंने ४० हज़ार रुपया जेब से दिया और ईसाई-मुक्ति-सेना के समान एक समिति का संगठन किया। राजनीति के क्षेत्र में आने के पश्चात् भी उन्हें अछूतोद्धार के इस काम में रुचि रही। जीवन के अंतिम कुछ बरसों में उन्होंने इस काम के लिए विशेष समय दिया। आप द्वारा स्थापित लोक-सेवक-समिति में इस कार्य के लिए अपना सारा समय देने वाले सदस्य (Life-members) भी थे। उनका अछूतोद्धार का यह प्रयत्न पश्चात् गांधी जी द्वारा स्थापित हरिजन-सेवक-संघ में ही सम्मिलित हो गया।

ला० लाजपतराय के जीवन का पहला युग आर्य-समाज के सार्वजनिक कार्य का युग है। तत्पश्चात् उनके कार्य का क्षेत्र राज-नीति और कांग्रेस हो जाता है। कांग्रेस की स्थापना अंग्रेजी सरकार के प्रोत्साहन से हुई थी ताकि वह देश के सुशिक्षित वर्ग

के मनोभावों से परिचित रहे और सन् सत्तावन के आकस्मिक बवंडर जैसी विपत्ति से सुरक्षित रह सके। परन्तु जब कुछ ही वर्ष बीतने पर कांग्रेस की शक्ति बढ़ने लगी और वह देश की प्रतिनिधि राष्ट्रीय संस्था का रूप धारण करने लगी तो सरकार को चिंता पड़ी और उसने कई गण्यमान्य भारतीयों द्वारा ही इस का विरोध करवाना आरम्भ कर दिया। इस विरोध में सब से अधिक शक्तिशाली हाथ सर सैयद अहमद खां का था। किसी समय वे राष्ट्रीयता के रंग में रँगे थे और बिना जाति-भेद के अखिल भारत के पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील थे। उस समय लाला जी के पिता सर सैयद के बड़े भक्त और श्रद्धालु थे। सर सैयद के परिवर्तित हो जाने पर लाला जी के पिता और स्वयं लाला जी ने उनके विरोध में कई खुली चिट्ठियां पत्रों में छपवाईं। कांग्रेस का काम भी उन दिनों केवल वार्षिक अधिवेशनों तक सीमित था। वक्तृताएं देना और प्रस्ताव पास करना मात्र था। लालाजी उन अधिवेशनों में जाया करते थे। १८८८ ई० में बनारस में हुए कांग्रेसाधिवेशन में लाला जी सर सैयद की नीति के विरुद्ध बड़े आवेग से बोले थे। उनके उस भाषण की पत्रों में प्रशंसा भी हुई थी, परन्तु अभी बरसों तक लाला जी की भाषण-शक्ति का प्रधान क्षेत्र आर्य-समाज ही रहा। १९०५ ई० में कांग्रेस की ओर से वे श्रीगोखले के साथ इंग्लैंड गए ताकि भारतीय दृष्टिकोण को पार्लिमैंट के सदस्यों के सामने प्रस्तुत करें। वहां पर उन्होंने एक मास में ४० व्याख्यान दिए और लेख भी लिखे। उस डैप्यूटेशन में आने का जो प्रभाव उन पर पड़ा

उसको उन्होंने लौटकर भारत में इन शब्दों में प्रकट किया "एक अंग्रेज़ भीख मांगने से अधिक किसी बात से घृणा नहीं करता। मैं समझता हूँ कि भिक्षुक इसी योग्य है कि उससे घृणा की जाय। इस लिए अंग्रेज़ को यह दिखा देना हमारा कर्त्तव्य है कि हमें अपनी अवस्था का अनुभव हो गया है और अब हम भिक्षुक नहीं हैं।"

१९०५ ई० तक कांग्रेस अधिकतया भिक्षुक-वृत्ति ही का आश्रय लेती रही। यदि उसने कभी कठोर शब्दों का प्रयोग भी किया तो उसी प्रकार जैसे कोई भिक्षुक प्रार्थना के साथ २ शाप देने का डर दिखाता है। १९०५ ई० में भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में जीवन-स्फूर्ति का संचार हो गया। भारतीय जागरण को दबाने के उद्देश्य से लार्ड कर्ज़न ने १९०५ में बंगाल के दो टुकड़े कर दिए। इस आघात ने बंगाल की रग २ में उष्ण रक्त प्रवाहित कर दिया। अखिल बंगाल आंदोलन हो उठा। उसी बरस जापान ने रूस को पराजय दी थी और इस घटना से एशिया के देश २ में प्रसन्नता और आवेग की लहर दौड़ गई थी। एक छोटे से एशियाई देश को, जो अभी अचिर जागृत था, योरुप की एक महान् शक्ति पर विजय प्राप्त होना एक आश्चर्यजनक घटना थी। इस घटना ने भारत की प्रगति को अंकुश का काम दिया। भारतीय जागरण का केंद्र बंगाल था। बंगाल से विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी का आंदोलन चला। लाला लाजपतराय ने और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने बंगाल के इस आंदोलन का पोषण किया। राष्ट्रीयता और जागरण की वह ज्योति बंगाल से

पंजाब में पहुंची पराधीनता के घाव तो देश के समूचे शरीर पर थे, परन्तु वह वेदना जागृति का रूप वहीं धारण कर सकती थी जहां उपयुक्त नेता हो। लाला जी उस समय पंजाब के उपयुक्त नेता थे। उस समय भारत की सजीव राष्ट्रीयता के तीन नेता माने जाते थे, बाल, लाल और पाल; अथवा बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचंद्रपाल।

१९०७ में यह जागृति पंजाब में एक विशेष रूप धारण कर गई। उस समय सरदार अजीतसिंह के प्रयत्न से लाहौर में देश-प्रेमी-सभा की स्थापना हुई जिसकी साप्ताहिक बैठक में सैंकड़ों लोग आते थे। उस समय लायलपुर के जिले में किसानों को सिंचाई-कर की वृद्धि पर आपत्ति थी। उन्हीं दिनों लाहौर के पत्र 'सिविल एंड मिलिटरी गजट' ने भारतीयों के प्रति ईर्ष्या-द्वेष-पूर्ण लेख निकाले और लोकप्रिय पत्र 'पंजाबी' पर देश-द्रोह का अभियोग चला। इन सब बातों से पंजाब में आवेग बढ़ गया। उधर बंगाल में जन २ के उत्तेजित कण्ठ से 'के बोले मातुम्मि अबले' की ध्वनि निकल रही थी और इधर पंजाब में घर २ 'पगड़ी सँभाल ओ जट्टा' का उग्र गान गाया जा रहा था। रावलपिंडी में कुछ माननीय व्यक्तियों पर सरकार ने विद्रोह का एक निराधार अभियोग चलाना चाहा। उन की सहायता के लिए लाला जी वहां जा पहुंचे। कचहरी में जनता की भीड़ लग गई। अभियोग स्थगित करना पड़ा, परन्तु संवृद्ध उत्तेजना के कारण जनता अंग्रेज अधिकारियों की कोठियों में घुस गई। बड़ी कठिनता से जनता के आवेग को नियंत्रित किया गया। सरकार पंजाब के

इस सारे उपद्रव की जड़ लाला जी ही को समझती थी। उनके बंदीकरण की अफ़वाहें प्रतिदिन उड़ती थीं। लाला जी भी तैयार थे। उनका परिवार लुधियाना में था और केवल एक लड़का पास था। जिस २ को उन्हों ने पत्र लिखने थे, लिख दिए थे। अंततः एक दिन जब वे कचहरी जाने को उद्यत थे, उनको बंदी करके जेल में पहुंचा दिया गया। उस समय के अपने भावों को लाला जी ने अपनी 'निर्वासन की कहानी' में इस प्रकार लिखा है;—

"सब से पहले मैं ने ऐसा अच्छा अवसर उपस्थित करने के लिए परमात्मा का धन्यवाद किया क्योंकि इस समय मेरे पिता, मेरी स्त्री तथा बच्चों में से कोई उपस्थित न था; उनमें से किसी के रहने पर जो हृदय-विदारक दृश्य उपस्थित होता उसे देखकर चित्त विचलित हो जाना कोई बड़ी बात न थी। दूसरी बात जिस के लिए मैं ने परमात्मा का धन्यवाद किया, वह यह थी कि मेरी माता का देहांत हो चुका था। मुझे अपने पिता की चिंता तो थी किंतु यह विश्वास था कि वे दृढ़हृदय के पुरुष हैं; इस लिए विचलित न होंगे। मैं अपने बच्चों और स्त्री की ओर से भी निश्चिंत था क्योंकि ये लोग भी मेरे पिता की देख-रेख में थे। इस प्रकार अपनी कुटुम्ब-सम्बन्धी बातों का विचार करने के बाद अपनी परिस्थिति के विषय में स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने लगा। मुझे अपने अन्दर किसी प्रकार की मानसिक अथवा नैतिक दुर्बलता का कुछ पता न लगा और न अपने विचारों से डगमगाने का मुझे कोई कारण प्रतीत हुआ। बाल्या-

वस्था ही से मुझे परमात्मा पर पूर्ण विश्वास था। यही विश्वास इस समय भी मुझे बल दे रहा था। मुझे अपनी तात्कालिक अवस्था में संकटों को सहने की अधिक शक्ति प्राप्त हुई। मैंने अपने आप को इस आत्म-निरीक्षण में अत्यंत दृढ़ पाया। मैंने प्रभु से प्रार्थना की कि मुझे इन कठिनाइयों को सहन करने का बल दे और मुझ से जान या अनजान में कोई ऐसा कार्य न होने दे जिस से मातृ-भूमि की सेवा के मेरे उद्देश्य में किसी प्रकार की अड़चन आए या मेरा समाज किसी तरह अपमानित और लज्जित हो।"

उसी रात लाहौर से स्पैशल गाड़ी के द्वारा प्रस्थान किया गया। गाड़ी पंजाब के हृदय-सम्राट्, पंजाब-केसरी, लाला लाजपतराय को लेकर, निद्रानिमग्न पंजाब को लांघकर, गंगा और यमुना को पार करती हुई कलकत्ता पहुंची। डायमंड हार्बर से उन्हें जहाज़ के द्वारा रंगून और रंगून से रेल के द्वारा मांडले पहुंचाया गया। गाड़ी पहुंचने के समय मांडले का स्टेशन खाली करवा दिया गया था। १६ मई को वे मांडले पहुंचे। उनके निर्वासन से जनता में बहुत असंतोष फैला। गोखले और तिलक ने सरकार के इस कार्य की घोर निंदा की। ब्रिटिश पार्लिमैंट में चर्चा हुई। अंत में मुक्त होकर १८ नवम्बर को वे लाहौर पहुंचे। मांडले जेल में पांच छः मास का वह समय उन्हों ने धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन और लेख-लेखन में व्यतीत किया।

मुक्त होकर उन्हों ने कलकत्ता के पत्र 'इंग्लिशमैन', लंडन के 'डेली ऐक्सप्रैस' और लाहौर के पत्र 'सिविल ऐंड मिलिटरी गज़ट' पर अभियोग चलाया। इन पत्रों ने लाला जी के बारे में झूठी

बातें छापी थीं कि वे सरकार के विरुद्ध विद्रोह करवाने वाले थे और अमीर काबुल से मिल कर अंग्रेजी राज्य को उखाड़ फैंकना चाहते थे, आदि २। कलकत्ता हाई कोर्ट से उन्हें 'इंग्लिशमैन' के विरुद्ध डिग्री मिली और दूसरे दोनों पत्रों ने उन से क्षमा मांग ली।

मांडले से लौटने पर लाला जी का देश में बड़ा भारी स्वागत और सन्मान हुआ। उस समय कांग्रेस में दोनों दलों, गरम दल और नरम दल का पारस्परिक विरोध पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। १९०७ का कांग्रेस-अधिवेशन नागपुर में होना निश्चित हुआ था और लोकमान्य तिलक उस अधिवेशन के प्रधान निर्वाचित हुए थे परन्तु नरम दल वालों ने अधिवेशन का स्थान नागपुर से सूरत बदल दिया ताकि लोकमान्य उसी प्रांत के होने के कारण प्रधान न हो सके और उनकी जगह नरम दल के नेता रास बिहारी घोष अध्यक्ष हों। गरम दल वालों ने यह चाल देख कर सूरत के अधिवेशन के अध्यक्ष-पद के लिए ला० लाजपतराय जी का नाम प्रस्तुत किया परन्तु लाला जी ने झगड़ा समाप्त करने के लिए अपने नाम की स्वीकृति न दी और रासबिहारी घोष के नाम ही का समर्थन किया। दिसम्बर में सूरत का कांग्रेस-अधिवेशन हुआ, परन्तु दोनों दलों में झगड़ा बढ़ गया। लाला जी ने समझौते का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। अंततः दो अधिवेशन हुए, एक नरम दल वालों का जिस के अध्यक्ष रास बिहारी घोष थे और दूसरा गरम दल वालों का जिसके अध्यक्ष अरविंद घोष थे। लाला जी दोनों अधिवेशनों में सम्मिलित हुए।

उस समय बंगाल में क्रांतिकारियों का बल बढ़ रहा था। सरकार के विरुद्ध देश का क्रोध बम-विस्फोट के रूप में निकल रहा था। सरकार की दमन-नीति भी उग्र हो रही थी। लोकमान्य तिलक बंदी किए गए और उन्हें छः बरस के कारावास का दंड मिला। १६०८ ई० में लाला जी इंग्लैंड गए। वहां पर उन्हों ने भारत की परिस्थिति पर व्याख्यान दिए और लेख लिखे। उस देश में स्थित भारतीय विद्यार्थियों में जागृति पैदा की। जब मिंटो-मार्ले-सुधारों की घोषणा हुई तो लाला जी विलायत ही में थे। उन्होंने इन सुधारों की निस्सारता प्रकट की। १६०६ में वे भारत लौटे। उस समय उन्होंने 'पंजाब हिंदू सभा' की स्थापना की जिस में सभी हिंदू वर्ग और सम्प्रदाय एक मंच पर एकत्र हो सकें। सभा का पहला अधिवेशन श्री परतूलचंद्र चटर्जी की अध्यक्षता में हुआ। यह हिंदू सभा मानों भावी हिंदू सभा का बीज थी। १६१० ई० में वे अपने पुत्र को, जो विलायत में पढ़ता था और वहीं बीमार हो गया था, लेने के लिए विलायत गए। भारत लौट कर भी पुत्र का स्वास्थ्य ठीक न हो सका और १६११ में उसकी मृत्यु हो गई। इस आघात को विस्मृत करने के लिए वे और अधिक तन्मयता से काम में लग गए। उन्होंने एक शिक्षा-संघ स्थापित किया जिस का उद्देश्य शिक्षा-प्रसार था और अपने पिता जी के स्मारक के रूप में जगरांव में 'राधाकृष्ण हाई स्कूल' स्थापित किया।

१६०७ ई० के पश्चात् लाला जी देश में न रहने के कारण और कांग्रेस की पारस्परिक फूट से ऊबकर कांग्रेस से अलग ही रहे थे। १६१२ ई० की बांकीपुर-कांग्रेस में वे सम्मिलित हुए। उस

अधिवेशन में श्री गोखले ने दक्षिण-अफ्रीका-स्थित भारतीयों की दुर्दशा का हृदय-विदारक चित्र खींचा। लाला जी ने भी इस विषय पर एक ओजस्वी भाषण दिया। कुछ ही समय पश्चात् दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी ने सत्याग्रह का आरम्भ कर दिया। इससे देश में बड़ी जागृति फैली। उस समय तक भारतवासियों के पास प्रार्थना और याचना के अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा साधन न था जिसे वे अपने अधिकारों को मनवाने के लिए सरकार के विरुद्ध सामूहिक रूप में प्रयुक्त कर सकते। गांधी जी ने सत्याग्रह का नया नैतिक शास्त्र भारत तथा संसार को दिया। जैसे २ दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह-आंदोलन अधिक उग्र रूप धारण करता गया वैसे २ भारत में उसकी सहायता के लिए कार्य बढ़ता गया। लाला जी ने पंजाब में भ्रमण करके और व्याख्यान दे कर २५ हज़ार रुपया इकट्ठा करके दक्षिण अफ्रीका भिजवाया। १९१४ में इसी सत्याग्रह-आंदोलन के सम्बन्ध में डेप्यूटेशन के साथ लाला जी विलायत गए। परन्तु इस भिक्षा-वृत्ति से उन्हें न कुछ आशा थी और न इसका कोई परिणाम हुआ। डेप्यूटेशन के अन्य सदस्य तो लौट आए परन्तु लाला जी वहीं रहे। वहां पर उन्होंने आर्य समाज पर एक पुस्तक लिखी। इंग्लैंड से वे जापान चले गए। १९१४ के कांग्रेस-अधिवेशन के लिए जो मद्रास में होना था, अधिक प्रांतों ने लाला जी को अध्यक्ष निर्वाचित किया था परन्तु जिन लोगों के हाथों में सत्ता थी वे किन्हीं कारणों से लाला जी की अध्यक्षता नहीं चाहते थे और उन्होंने प्रांतों से अपने मत वापिस लेने का अनुरोध किया।

जापान से लाला जी भारत लौटना चाहते थे परन्तु युद्ध छिड़ जाने के कारण उन्हें भारत आने के लिए पासपोर्ट न मिला। जापान से वे इंग्लैंड और फिर इंग्लैंड से अमेरिका चले गए। तब से लेकर १६२० के आरम्भ तक वे अमेरिका ही में रहे। युद्ध समाप्त हो चुकने के पश्चात् भी उन्हें तब तक भारत आने की आज्ञा न मिली जब तक योरुप में संधि होकर शांति स्थापित न हो गई। अमेरिका में लाला जी चुपचाप नहीं बैठे। वहां पर उन्हों ने भारतीय राष्ट्रीयता का संदेश दिया और भारतीय स्वाधीनता के लिए कार्य करना आरम्भ कर दिया। उनके कार्य के मुख्य साधन थे—व्याख्यान तथा लेख। उन्होंने 'तरुण भारत' (यंग इंडिया) नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला, जिसका सम्पादन-कार्य वे स्वयं करते थे। वहां पर उन्होंने 'इंडिया होमरूल लीग' की स्थापना की, जिसके सभापति तथा कोषाध्यक्ष वे स्वयं थे। अमेरिका के बहुत से नगरों में लीग की शाखाएं थीं। भारतीयों के अतिरिक्त कोई ८०० दूसरे व्यक्ति भी सदस्य थे। लीग का उद्देश्य था—युद्ध की समाप्ति पर भारत के लिए स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार प्राप्त करना। इस के लिए अमेरिका के पत्रों में भी चर्चा हुई। लाला जी ने एक पुस्तक भी लिखी जिसका नाम था 'पोलिटिकल फ्यूचर ऑफ़ इंडिया' (भारत का राजनीतिक भविष्य)। अमेरिका के प्रसिद्ध व्यक्तियों से मिल कर उन्होंने उनका ध्यान भारतीय परिस्थिति की ओर आकर्षित किया। 'फ़ाइट फ़ॉर क्रम्ज़' (टुकड़ों के लिए झगड़ा) नाम की पुस्तिका छपवा कर बँटवाई। ऐसी ही दूसरी कई पुस्तिकाओं की लाखों प्रतियां बँटवाईं। इस से बड़ा आंदोलन हुआ। यहां तक

कि अमेरिकन शासन सभा की वैदेशिक समिति के सामने भी इस उद्देश्य का एक प्रस्ताव आया। भारतीय व्यापार की उन्नति के लिए उन्होंने भारतीयों तथा अमेरिकनों के साझे की एक कम्पनी स्थापित की। ऐसे ही न्यूयार्क में 'इंडियन इन्फॉर्मेशन ब्यूरो' की स्थापना की।

अमेरिका में भी खुफिया पुलिस के अंग्रेज लाला जी के पीछे लगे रहते थे। एक दिन तो उन्होंने यहां तक दुस्साहस किया कि जिस कमरे में वे अपने साथियों के साथ परामर्श करने वाले थे, उसमें उन्होंने छिपा कर 'डिक्टोग्राफ़' रख दिया। इस यंत्र में यह शक्ति है कि जो कुछ आदमी बोलता है उस में अंकित होता जाता है। संयोगवश उस बैठक में कोई बात ऐसी न हुई कि जिस पर आपत्ति हो सके।

जलियांवाला बाग अमृतसर का हत्या-कांड उस समय हुआ जब वे अमेरिका में थे। समाचार सुन कर वे तड़प उठे और भारत लौटने के लिए आकुल हो गए। ऐसे संकट के समय वे अपने प्रांतवासियों के साथ रहना चाहते थे परन्तु वे फ़र्वरी १९२० से पहले भारत न पहुंच सके। बहुत देर तक वे मातृभूमि से पृथक् रहे थे। आते ही कार्यव्यग्र हो गए। 'तिलक स्कूल ऑफ़ पालिटिक्स' की स्थापना की और उर्दू दैनिक पत्र 'वंदेमातरम्' निकाला। वह समय भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास में विशेष जागृति का युग था। गांधी जी का भारत के राजनीतिक क्षेत्र पर स्वतः अधिकार हो गया था। कांग्रेस में दो विचार-धाराएं चल रही थीं। कुछ लोग कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में थे और कुछ असह-

योग के पक्ष में। देश की परिस्थिति को देख कर लाला जी भी असहयोग के पक्ष में हो गए। दिसम्बर १९२० में कलकत्ता के विशेष कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष, जिस में गांधी जी का असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ, स्वयं लाला जी थे।

उस समय देश की धमनियों में एक नया रक्त संचारित हो रहा था। गांधी जी भारतीय नेतृत्व के कर्णधार थे। देश के भिन्न भिन्न वर्ग तथा सम्प्रदाय अपने भेद-भाव को विस्मृत करके मानों स्वाधीनता-देवी के मंदिर में सम्मिलित उपासना के लिए एकत्र थे। हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य का नाम भी न सुना जाता था। भारत का चिर-सुप्त भाग्य जाग उठा था। असहयोग और असहकार का सुदर्शन चक्र चल रहा था। भारतीय सरकार की मानों जड़ें हिल गई थीं। भयभीत राज्य-सत्ता जनता में आतंक उत्पन्न करना चाहती थी। उग्र दमन-नीति का दौरदौरा था। सब ओर पकड़-धकड़ हो रही थी। साधारण कार्यकर्ता तक नहीं छोड़े गए थे तो लाला जी कैसे बाहर रह सकते थे। ऐसे समय में सरकार पंजाब-केसरी को दहाड़ने के लिए कैसे मुक्त रहने दे सकती थी। ३ दिसम्बर १९२१ ई० को लाला जी बंदी किये गए और उन्हें १८ मास कारावास का दंड मिला। कुछ देर पश्चात् उन्हें छोड़ कर पुनः पकड़ लिया गया और दो वर्ष कारावास का दंड दिया। जेल में लाला जी क्षयरोग-ग्रस्त हो गए। सरकार चाहती थी कि लाला जी मुक्त किए जाने के लिए प्रार्थना करें परन्तु वे दूसरी ही मिट्टी के बने थे। अंततः सरकार ने उन की बीमारी के कारण उन्हें १९२३ में छोड़ दिया।

उस समय गांधी जी जेल में थे। उनका चलाया आंदोलन शिथिल हो गया था। सरकार ने अपनी नीति-कुशलता तथा साधन-प्रचुरता से देश में पारस्परिक फूट डलवा दी थी। सत्याग्रह-आंदोलन का आंचल हिंसारक्त से अकलुषित नहीं रह सका था। कांग्रेस में कौंसिल-प्रवेश तथा कौंसिल-बहिष्कार की दोनों विचारधाराएं चल रही थीं। मोतीलाल नेहरू तथा देशबंधु-दास असहयोग की नीति में परिवर्तन चाहने वालों के नेता थे और राजगोपालाचार्य अपरिवर्तनवादियों के प्रतिनिधि थे। गया-कांग्रेस के अधिवेशन में अपरिवर्तनवादियों की विजय हुई थी परन्तु दूसरी विचारधारा भी जड़ पकड़ती जा रही थी। इस प्रश्न पर पुनः विचारार्थ दिल्ली में कांग्रेस का विशेषाधिवेशन हुआ और परिवर्तनवादियों को कौंसिल-प्रवेश का अधिकार दे दिया गया।

लाला जी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। वह हिंदू-मुस्लिम फूट का युग था। [illegible] ने इसकी दुर्बलता को पहचान लिया था और उस से लाभ उठाने का भरसक प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। लगभग बीस वर्ष पहले सरकार ने साम्प्रदायिक वैमनस्य का जो विषाक्त बीज बोया था उसका [illegible] फल देश को चखना पड़ रहा था। जहां कुछ ही समय पहले देश के स्वत्वों के लिए सम्मिलित आंदोलन था, वहां अब हिंदू स्वत्वों और मुस्लिम स्वत्वों की दुहाई थी। देश के इस वातावरण में लाला जी को स्वामी श्रद्धानंद और महामना मालवीय के साथ मिल कर हिंदू महासभा की स्थापना करनी पड़ी। हिंदू महा-

सभा का पहला अधिवेशन बनारस में हुआ। हिंदू महासभा के १९२५ ई० के कलकत्ता-अधिवेशन के अध्यक्ष स्वयं लाला जी थे। लाला जी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के विरुद्ध थे। उनके प्रयत्नों से हिंदू महासभा ने निश्चय किया कि वह कौंसिलों के लिए अपने प्रतिनिधि खड़े न करे। लाला जी के हिंदूसभा स्थापित करने का यह अर्थ नहीं था कि वे साम्प्रदायिक रंग में रँग गए थे। देश के स्वत्वों की प्राप्ति के लिए वे कांग्रेस ही को प्रतिनिधि मानते थे परन्तु मुस्लिम राजनीति का प्रतिरोध करने के लिए वे हिंदू महासभा की आवश्यतका को भी समझते थे। मुस्लिम साम्प्रदायिक मांगों के सम्मुख दूसरी ओर हिन्दू साम्प्रदायिक मांगों के रहने से कांग्रेस की निष्पक्षता को बल मिलता था। मुसलमानों की अनुचित साम्प्रदायिक मांगों के उत्तर में कांग्रेस कह सकती थी कि—इस सम्बन्ध में हिंदू महासभा के साथ समझौता कर लो।

१९२५ ई० में लाला जी स्वराज्य-दल की ओर से बड़ी कौंसिल में गए और कौंसिल में उस दल के डिप्टी-लीडर भी नियुक्त हुए परन्तु कुछ समय के पश्चात् मतभेद के कारण उस दल से अलग हो गए। वे किसी प्रस्ताव पर कौंसिल को छोड़ कर चले जाने के पक्ष में नहीं थे। पुनः स्वतंत्र-कांग्रेस-दल बना कर वे स्वराज्य-दल द्वारा खड़े किये गए उम्मीदवारों का विरोध होते हुए भी दो स्थानों से निर्वाचित हुए। स्वराज्य-दल से अलग होते हुए भी उन्होंने कौंसिल में सदा जनता का पक्ष लिया। मद्रास में हुई कांग्रेस में उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न किया। समझौता करने के उद्देश्य से उन्होंने सर्व-

दल-सम्मेलन की ओर से प्रस्तुत की गई नेहरू रिपोर्ट को, कई बातों में मतभेद रहते हुए भी, स्वीकार कर लिया। १९२५ के पश्चात् वे कांग्रेस से पृथक् ही रहे। अंग्रेजी सरकार ने भारत-वासियों की राजनीतिक मांगों के औचित्य की जांच करने के लिए एक कमीशन भेजा था जिस के सभापति के नाम से उसका नाम 'साइमन-कमीशन' प्रचलित हो गया था। वह कमीशन देश में भ्रमण करता हुआ ३० अक्तूबर १९२८ को लाहौर पहुंचने वाला था। अन्य स्थानों की भांति लाहौर में भी काली झंडियों द्वारा कमीशन के प्रति असंतोष प्रदर्शित करने का कार्यक्रम था। उधर पुलिस भी दमन के लिए तत्पर थी। १४४ धारा लगा दी गई थी परन्तु जनता जुलूस निकालने और प्रदर्शन करने पर तुली थी। लाला जी उसी दिन युक्तप्रांत की प्रांतीय हिंदू कान्फ्रेंस से लौटे थे। १४४ धारा की घोषणा सुन कर उन्होंने भी जुलूस में सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया। दोपहर को जुलूस निकला और लाला जी आगे थे। स्टेशन के पास पहुंच कर जुलूस रुक गया और कमीशन के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। 'साइमन लौट जाओ' और 'बंदे मातरम्' की ध्वनि से आकाश गूंज रहा था। पुलिस से यह सहन न हो सका। एकाएक जनता पर पुलिस की लाठियां बरसने लगीं। एक गोरे ने लाला जी पर भी लाठियां चलाईं जिससे उनकी छाती पर चोटें आईं। उसी सायं-काल मोरी गेट के बाहिर रोष प्रकट करने के लिए एक विराट् सभा हुई। जनता की उत्तेजना का पारावार न था। उसी सभा में भाषण देते हुए लाला जी ने ये चिरस्मरणीय शब्द कहे

थे मेरे शरीर पर पड़ी हुई एक २ चोट ब्रिटिश साम्राज्य के कफ़न की कील होगी।' लाला जी के इस भाषण को जिसने भी सुना वह भूल नहीं सकता। इस भाषण में उन्होंने अपनी भावी मृत्यु की ओर भी संकेत किया था।

लाठियों की वह चोट उस समय कुछ अधिक अनुभव नहीं की गई परन्तु तत्पश्चात् उनका स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया। शरीरावस्था की अवहेलना करके वे सर्व-दल-सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए देहली चले गए। वहां से लौट कर दशा और अधिक बिगड़ गई। तथापि किसी को यह ज्ञान नहीं था कि इस महापुरुष का अंत इतनी जल्दी आ जाएगा। अंततः १७ नवम्बर १९२८ को प्रातःकाल ७ बजे ६३ वर्ष की आयु में 'पंचनद-पंचानन' पंजाब-केसरी चिरनिद्रा में मग्न हो गए।

लाला लाजपतराय की सर्वप्रियता का अनुमान उस जुलूस को देखकर लगाया जा सकता था जो रावी तट पर दाह-संस्कार करने के लिए ले जाई जा रही उन की अरथी के साथ था। लाहौर तो क्या मानों पंजाब उमड़ आया था। जिस २ ने जहां कहीं सुना, सुन कर सन्नाटे में आ गया और उड़ कर लाहौर पहुंचने को आकुल हो गया। जहां तक दृष्टि जाती थी जनता का अपार संघट्ट था। सड़कों पर मानों सिरों का दरिया बहा जा रहा था। सब ओर से पुष्प-वर्षा हो रही थी। आश्चर्य हो रहा था कि लाहौर में इतने फूल कहां से आ गए। कौन ऐसा था जो पुष्पांजलि अर्पित करके अपने को सौभाग्यवान करना नहीं चाहता था। हाथों से फूल गिर रहे थे और आंखों से आंसू।

दल सम्मेलन की ओर से प्रस्तुत की गई नेहरू रिपोर्ट को, कई बातों में मतभेद रहते हुए भी, स्वीकार कर लिया। १९२५ के पश्चात् वे कांग्रेस से पृथक् ही रहे। अंग्रेजी सरकार ने भारत-वासियों की राजनीतिक मांगों के औचित्य की जांच करने के लिए एक कमीशन भेजा था जिस के सभापति के नाम से उसका नाम 'साइमन-कमीशन' प्रचलित हो गया था। वह कमीशन देश में भ्रमण करता हुआ ३० अक्तूबर १९२८ को लाहौर पहुंचने वाला था। अन्य स्थानों की भांति लाहौर में भी काली झंडियों द्वारा कमीशन के प्रति असंतोष प्रदर्शित करने का कार्यक्रम था। उधर पुलिस भी दमन के लिए तत्पर थी। १४४ धारा लगा दी गई थी परन्तु जनता जुलूस निकालने और प्रदर्शन करने पर तुली थी। लाला जी उसी दिन युक्तप्रांत की प्रांतीय हिंदू कान्फ्रेंस से लौटे थे। १४४ धारा की घोषणा सुन कर उन्हों ने भी जुलूस में सम्मिलित होने का निश्चय कर दिया। दोपहर को जुलूस निकला और लाला जी आगे थे। स्टेशन के पास पहुंच कर जुलूस रुक गया और कमीशन के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। 'साइमन लौट जाओ' और 'बंदे मातरम्' की ध्वनि से आकाश गूंज रहा था। पुलिस से यह सहन न हो सका। एकाएक जनता पर पुलिस की लाठियां बरसने लगीं। एक गोरे ने लाला जी पर भी लाठियां चलाईं जिससे उनकी छाती पर चोटें आईं। उसी सायं-काल मोरी गेट के बाहिर रोष प्रकट करने के लिए एक विराट् सभा हुई। जनता की उत्तेजना का पारावार न था। उसी सभा में भाषण देते हुए लाला जी ने ये चिरस्मरणीय शब्द कहे

थे मेरे शरीर पर पड़ी हुई एक ✓ चोट ब्रिटिश साम्राज्य के कफन की कील होगी।' लाला जी के उस भाषण को जिसने भी सुना वह भूल नहीं सकता। उस भाषण में उन्हों ने अपनी भावी मृत्यु की ओर भी संकेत किया था।

लाठियों की वह चोट उस समय कुछ अधिक अनुभव नहीं की गई परन्तु तत्पश्चात् उनका स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया। शरीरावस्था की अवहेलना करके वे सर्व-दल-सम्मेलन में सम्मि-लित होने के लिए देहली चले गए। वहां से लौट कर दशा और अधिक बिगड़ गई। तथापि किसी को यह ज्ञान नहीं था कि इस महापुरुष का अंत इतनी जल्दी आ जाएगा। अंततः १७ नवम्बर १९२८ को प्रातःकाल ७ बजे ६३ वर्ष की आयु में 'पंचनद-पंचानन' पंजाब-केसरी चिरनिद्रा में मग्न हो गए।

लाला लाजपतराय की सर्वप्रियता का अनुमान उस जुलूस को देखकर लगाया जा सकता था जो रावी तट पर दाह-संस्कार करने के लिए ले जाई जा रही उन की अरथी के साथ था। लाहौर तो क्या मानों पंजाब उमड़ आया था। जिस र ने जहां कहीं सुना, सुन कर सन्नाटे में आ गया और उड़ कर लाहौर पहुंचने को आकुल हो गया। जहां तक दृष्टि जाती थी जनता का अपार संघट्ट था। सड़कों पर मानों सिरों का दरिया बहा जा रहा था। सब ओर से पुष्प-वर्षा हो रही थी। आश्चर्य हो रहा था कि लाहौर में इतने फूल कहां से आ गए। कौन ऐसा था जो पुष्पां-जलि अर्पित करके अपने को सौभाग्यवान् करना नहीं चाहता था। हाथों से फूल गिर रहे थे और आंखों से आंसू।

सायंकाल हो गया था अंधकार छाने लगा था रावी तट पर अपार भीड़ से घिरी हुई चिता जल रही थी। लोग चिता के आस-पास की मिट्टी, स्मरणचिन्ह के रूप में, उठाने के लिए परस्पर संघर्ष कर रहे थे। कुछ दूरी पर रावी की क्षीण धारा चुप चाप बहे जा रही थी। इधर भगवान् विभावसु बड़ी तन्मयता से उस पंजाब-केसरी कहे जाने वाले शरीर को गोदी में धारण किये थे। वह दृश्य भूलने का नहीं है।

लाला जी की मृत्यु पर भारत तथा संसार के महापुरुषों क ओर से उन्हें जो श्रद्धांजलियां भेंट की गईं उन्हें उद्धृत करने के लिए यहां स्थान नहीं है। हां, गांधी जी ने कहा था—"लाला जी तो एक संस्था थे। अपने यौवन के समय से ही उन्होंने देश-भक्ति को अपना धर्म बना लिया था और उनके देश-प्रेम में संकीर्णता न थी। वे अपने देश से इस लिए प्रेम करते थे कि वे संसार से प्रेम करते थे। उनकी राष्ट्रीयता अंतर्राष्ट्रीयता से भरपूर थी...... उनकी सेवाएं विविध थीं। वे बड़े ही उत्साही, समाज-सुधारक और धार्मिक थे।......ऐसे किसी भी आंदोलन का नाम लेना असम्भव है जिस में लाला जी सम्मिलित न थे। सेवा करने की उनकी भूख सदा अतृप्त ही रहती थी। उन्होंने शिक्षण-संस्थाएं खोलीं, वे दलितों के मित्र बने। जहां कहीं दुःख दारिद्र्य होता, वे वहीं दौड़ते थे।"

लाला जी प्रबल समाज-सुधारक, शिक्षा-विशेषज्ञ और निपुण राजनीतिज्ञ थे। वे एक प्रभावशाली लेखक और शक्ति-शाली वक्ता थे। भिन्न २ शिक्षा-पद्धतियों का अध्ययन करने के

लिए उन्होंने देशदेशांतरों का भ्रमण किया। उनकी रचनाओं में भाषा का प्रवाह, घटनाओं का संकलन और हृदय का आवेग एक सुन्दर संमिश्रण के रूप में मिलते हैं। मेजिनी, गेरीबाल्डी, शिवाजी, कृष्ण, दयानंद और गुरुदत्त की छोटी २ जीवनियां लिख कर उन्हों ने अपने को एक सफल जीवनी-लेखक सिद्ध कर दिया। उनकी पुस्तक 'तरुण भारत' (यंग इंडिया) ने एक समय बड़ी हलचल पैदा की थी। मिस मेयो की पुस्तक 'भारत माता' (मदर इंडिया) के उत्तर में उन्होंने 'दुःखी भारत' (अनहैप्पी इंडिया) नाम की पुस्तक लिखी। 'भारत माता' का इससे अच्छा और प्रामाणिक उत्तर दूसरा नहीं निकला। 'वंदे मातरम्' और 'पीपल' में उनके लिखे लेख बहुत प्रभावशाली होते थे। उनकी वक्तृत्व-शक्ति का तो कहना ही क्या था। ऐसे प्रभावशाली वक्ता कोई विरले ही होते हैं। कितना ही विशाल जन-समूह हो उस को वश में कर लेना उनके बाएं हाथ का काम था। श्रोतागणों पर जादू करते थे। उन के हृदयों को वशीभूत कर लेते थे।

लाला जी के जीवन का पहला भाग आर्य-समाज के कार्य-क्षेत्र में व्यतीत हुआ। आर्य-समाज द्वारा हुए कार्य में कितना भाग लाला जी का है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। कांग्रेस के क्षेत्र में कुछ बरस कार्य करके उन्हें एक लम्बे समय के लिए विदेश में रहना पड़ा। विदेशों में भारत के प्रति उत्पन्न हुई जागृति और सहानुभूति का बहुत सा श्रेय लाला जी को है। भारत लौटने पर स्थायी रचनात्मक कार्य करने के लिए उन्हें बहुत कम समय मिला। तथापि उन की स्थापित की हुई लोक-

सेवक-समिति (सर्वेंट्स ऑफ पीपल्ज सोसाइटी) ने पंजाब तथा भारत के जागरण में पर्याप्त कार्य किया है। उनकी स्थापित की हुई द्वारकादास लाइब्रेरी, जो अब शिमला में ले जाई गई है, एक सुसम्पन्न पुस्तकालय है। यदि उन्हें और अधिक समय मिलता तो उनका छोड़ा हुआ स्थायी रचनात्मक कार्य और अधिक विशाल होता।

सच तो यह है कि पंजाब की जनता ने उनके अंदर अपनी आत्मा को पाकर उन्हें अपना हार्दिक स्नेह दिया। वे पंजाब के हृदय-सम्राट् बने। पंजाब के साम्प्रदायिक वातावरण में ऐसी सर्वप्रियता प्राप्त करना लाला लाजपतराय ही का काम था। उन के पश्चात् पंजाब को कोई ऐसा सर्वप्रिय नेता नहीं मिला। उनकी मृत्यु से पंजाब में जो अभाव हुआ उस की पूर्ति अभी तक भी नहीं हो सकी। यही कारण है कि पंजाब का विभाजन हुआ और पंजाबियों को विनाश का कटु अनुभव करना पड़ा।

कवि-सम्राट् रवींद्रनाथ टैगोर

'टैगोर' शब्द 'ठाकुर' शब्द का अंग्रेजी अपभ्रंश है परन्तु कवि-सम्राट् इसी अपभ्रंश से भारत तथा संसार में विख्यात हैं। ठाकुर या टैगोर-परिवार कलकत्ते में एक सम्पन्न, सुसंस्कृत, शिक्षा और कलाप्रिय परिवार रहा है। आधुनिक भारत के किसी दूसरे परिवार से कदाचित् इतने महान् व्यक्ति, विद्या-विलासी कला-कोविद् तथा सुधारक उत्पन्न नहीं हुए जितने कलकत्ता के इस ठाकुर-परिवार में हो चुके हैं। कवि-सम्राट् के पितामह द्वारकानाथ टैगोर 'प्रिंस' अथवा 'राजा' नाम से पुकारे जाते थे। सुसम्पन्न होने के साथ २ वे बहुत उदार और दानशील भी थे। अंग्रेजी राजदरबार में उनका बहुत सम्मान था। कवि-सम्राट् के पिता महर्षि देवेंद्रनाथ टैगोर ब्रह्मसमाज के नेता, प्रसिद्ध देश-सुधारक और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। जब प्रिंस द्वारकानाथ टैगोर की इंग्लैंड में अचानक मृत्यु हो गई तो ज्ञात हुआ कि उनकी उदारता और मुक्त-हस्तता के कारण उनकी फ़र्म घाटे में जा रही थी। लेन और देन में तीस लाख का अंतर था परंतु टैगोर-परिवार की पर्याप्त गृहसम्पत्ति पृथक् सुरक्षित और कानून की पहुँच से बाहिर थी। जब लेनेवालों ने अपने रुपये की मांग की तो देवेंद्रनाथ टैगोर ने अपनी सब गृह-सम्पत्ति भी ऋण चुकाने के लिए दिए जाने पर आग्रह किया। यह देखकर लेनेवालों पर बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने फ़र्म की होनेवाली आय से अल्पाल्पशः अपना

रुपया लेना स्वीकार करके सब सम्पत्ति और व्यवसाय देवेंद्रनाथ टैगोर को सौंप दिए, जिन्होंने थोड़े ही समय में सारा ऋण चुका दिया। ऐसे परिवार में और ऐसे पिता के यहां कलकत्ते के जोड़ासांकू मुहल्ले और द्वारकानाथ लेने में स्थित 'ठाकुर वंश' के निजी भवन में हमारे भावी कवि-सम्राट का जन्म १८६१ ई० में हुआ।

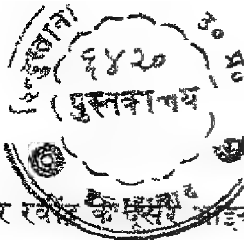
बालक रवींद्रनाथ बहुत से भाई-बहिनों से छोटा था। टैगोर-परिवार एक विशाल परिवार था और घर में बहुत से बच्चे थे। पिता एकांतप्रिय थे। वे बहुधा घर से बाहर रहते और घर आते भी तो उनका कमरा बच्चों की पहुँच में न था। माता शारदादेवी का स्वास्थ्य अच्छा न रहता था और अंततः रवींद्रनाथ की बारह बरस की आयु में उनकी मृत्यु हो गई। रवींद्र का बचपन नौकर-चाकरों की देख-रेख में गुजारा। नौकर-चाकरों के अनुशासन का एक अद्भुत उदाहरण उन्होंने अपनी स्मृतियों में दिया है—'वे कहीं बाहर जाते समय, बच्चों को उपद्रव से और इधर-उधर चले जाने से रोकने के लिए उनके चारों ओर एक रेखा खींच देते और कह जाते कि यदि उन्होंने रेखा को पार किया तो उन पर सीता की तरह भयानक संकट आएगा।"

सब प्रकार के अध्ययन-अध्यापन का प्रबंध घर पर होने के अतिरिक्त रवींद्र को पहले एक और तत्पश्चात् दूसरे, स्कूल में भी भर्ती किया गया, परंतु उसका मन स्कूल के वातावरण से ऊबता था। बालक रवींद्र के अंदर तो प्राचीन भारत के उन

ऋषियों की आत्मा थी जो तपोवनों में, प्रकृति की गोद में, सौंदर्य के वातावरण में, जीवन-यापन करते थे। कलकत्ता के स्कूल की दीवारें, निर्जीव ईंट-पत्थर के बने कमरे, अध्यापकों का लोह-कठोर अनुशासन, रसहीन शिक्षा-प्रणाली और शुष्क विषय उसके हृदय को कैसे आकर्षित कर सकते थे। उसकी स्वतंत्र आत्मा के लिए तो स्कूल कारागृह के समान था। स्कूल जाने के दिनों की एक छोटी सी घटना से बालक की सरलता सहृदयता और उदारता का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। एक दिन जब उसकी अपनी कक्षा में अध्ययन करने वाले टैगोर-परिवार के एक दूसरे विद्यार्थी को स्कूल में किसी बात पर पुरस्कार मिला तो घर आते ही रवींद्र ने इतनी प्रसन्नता से घर वालों को समाचार सुनाया मानों स्वयं उसको वह पुरस्कार मिला हो। घर में पठन-पाठन नियमित रूप से चलता था परंतु रवींद्र को घर पर पढ़े जाने वाले भी शुष्क विषयों में रुचि न थी। हां, जिन विषयों में उसे रुचि थी, जैसे कि साहित्य आदि, उन विषयों में उसका अध्ययन विशाल था और गति अद्भुत थी। जब कोई रुचिकर पुस्तक मिल जाती तो समाप्त किए बिना रवींद्र को चैन न पड़ती थी।

रवींद्र को बचपन से प्रकृति-निरीक्षण में भी बहुत रुचि थी। छोटी आयु में जब घर से बाहिर निकलना वर्जित था तो घर के आंगन का वह कोना जहां कुछ वृक्ष लगे थे, उसका प्रिय स्थान था। जन्म-जन्मांतर के संस्कारों से रवींद्र प्रकृति में अपनी आत्मा का साक्षात्कार स्वभाव ही से कर सकता था।

फूल पत्तों, पशु पक्षियों और मानव के साथ उस शिशु की स्वत:-सिद्ध आत्मीयता थी। अपनी स्मृतियों में कवि-सम्राट् ने लिखा है कि घर के पछवाड़े का सरोवर उनके शैशव के लिए रहस्य और कौतूहल से पूर्ण था।” उन आंखों के लिए सरोवर का जल, आसपास के वृक्ष और जलचर एक रहस्यमय और सजीव हुआ थे। रवींद्र सरोवर की ओर खुलती हुई घर की खिड़की से बैठकर पहरों उस ब्रह्मानंद सहोदर रस का आस्वादन करता। नहाने के लिए आनेवाले व्यक्तियों की चाल-ढाल में, उनके हाव-भाव में, नहाने के अपने २ रंग-ढंग में, कवि की आंखों को एक अद्भुत कौतूहल दिखाई देता था। रवींद्र जन्मत: कवि था। वह बलात्कार से बनाया गया कवि न था। प्रकृति-प्रेम की यह देन कदाचित् रवींद्र को पिता से मिली हो। देवेंद्रनाथ टैगोर भी प्रकृति-प्रेम के मतवाले थे। कई दफ़ा नाव की यात्रा में किसी सुन्दर स्थान के पास से गुजरते तो वहीं नाव रुकवा देते और आगा-पीछा भूल कर सौंदर्य-रसास्वादन में निमग्न हो जाते। उन्हें हिमाचल से बहुत प्रेम था और बहुधा प्राकृतिक सौंदर्य की पिपासा उन्हें पर्वतों की ओर खींच ले जाती। गगनचुम्बी पर्वतों की भव्य विशालता, बहुवर्ण वसनधारिणी प्रकृति की शोभा, समीप ही दिखाई दे रहे हिमाच्छन्न शिखरों की मूक शुभ्रता उनके व्यक्तित्व को आत्मसात् कर लेती थी। विश्व के साथ यही प्रेम-सम्बन्ध, यही सहानुभूति कला के प्राण हैं। महर्षि देवेंद्रनाथ में यह अनुभूति थी परंतु वे कलाकार नहीं बने। वे एक भक्त, धार्मिक नेता और सुधारक रहे। कलाकार बनना रवींद्र के



और रवींद्र के दूसरे भाइयों के साथ में था।

रवींद्र के बचपन में सब से अधिक उल्लेखनीय बात जिसका विकास पश्चात् कला के रूप में हुआ उसकी यह विश्वात्मा के साथ आत्मीयता की अनुभूति ही है। एक बार जब टैगोर-परिवार को किसी कारण शहर का मकान छोड़कर कुछ देर के लिए दरिया के किनारे एक मकान में रहना पड़ा तो उस समय बालक रवींद्र के हृदय में विशाल जलधारा, आते-जाते जलपोतों, लहरों से संघर्ष करती डोंगियों, नाविकों के मधुर गानों, दिगंत तक फैली हरित पृथिवी और खुले आकाश को देखकर जो अनुभूति उत्पन्न हुई उसका अनुमान कोई कवि-हृदय ही लगा सकता है। महर्षि देवेंद्र नाथ ने एकांतवास और आत्म-चिंतन के लिए बोलपुर के पास एक स्थान बना रखा था। एक बार वे बालक रवींद्र को भी वहां अपने साथ ले गए। वहां पर वे रात को पहुंचे। रवींद्र उस स्थान के सुन्दर दृश्य को पूर्णता के साथ देखना चाहता था परंतु उस समय रात के अंधकार में दृश्य धुंधले रूप में दिखाई दे सकता था। प्रथम-दर्शन के उस दिव्य आनंद को दिन के उजाले में पूर्ण रूप से अनुभव कर सकने के लिए रवींद्र ने उस रात्री के समय उस दृश्य को बिल्कुल न देखना उचित समझा और आंखें बंद कर रखीं। कवि के हृदय के विकास की ऐसी झांकियां कवि की स्वलिखित स्मृतियों में स्थान २ पर दिखाई देती हैं। उस पुस्तक में ऐसी एक से अधिक अनुभूतियों का वर्णन है। जब कवि-सम्राट् के बचपन तथा यौवन में उनकी आंखों से मानों एक

आवरण हट गया और उन्हें सकल विश्व एक अद्वितीय और वर्णनातीत सौंदर्य में स्नात दिखाई दिया तब आनंद के सागर ने हृदय को आप्लावित कर दिया। ऐसा था हृदय, जिसका विकास कवि-सम्राट् के रूप में हुआ।

उपर्युक्त वर्णन उस स्वतःसिद्ध, परम्परागत, पूर्वजन्मोपलब्ध प्रतिभा का है जो बीजरूप में कवि-सम्राट् के अंदर निहित थी। बीज को स्फुटित होने, बढ़ने और फलने-फूलने के लिए यदि उचित सामग्री और वातावरण न मिले तो उसकी शक्तियां सुप्त रहेंगी और विकास को प्राप्त न होंगी। कई लोग कवि का हृदय लेकर पैदा होते हैं परंतु अनुकूल वातावरण न पाकर कलाकार के रूप में विकसित नहीं हो सकते। भारत का और विश्व का सौभाग्य है कि हमारे भावी कवि-सम्राट् को बचपन ही से ऐसा अनुकूल और पोषक वातावरण मिल गया जैसा उसकी प्रतिभा को मिलना चाहिए था। टैगोर-परिवार विद्या, साहित्य और कला का केंद्र था। आर्थिक दृष्टि से परिवार सुसम्पन्न था और दैवयोग से विद्या एवं कला की दिव्य ज्योति भी प्रज्वलित हो उठी थी। लक्ष्मी और सरस्वती के दुर्लभ सहवास का एक अपूर्व उदाहरण था—जोड़ासांकू मुहल्ले का टैगोर-भवन। देवेंद्रनाथ टैगोर से मिलने के लिए कलकत्ते के सब तरह के विद्वान्, साहित्य-प्रेमी और कलाविद् आते थे। उस समय कलकत्ता ही मानों हमारे भारत का हृदय था। भारत की चिरसुप्त प्रतिभा पश्चिम के आघात से जागृत हो उठी थी और अर्धोन्मीलित आंखों को मलते हुए विकास की

ओर अग्रसर हो रही थी। बंकिमचंद्र ने बंग-साहित्य में प्राण-संचार कर दिया था। देश का लुप्तप्राय गर्व साहित्य के क्षेत्र में अपने आपको ढूंढ़ रहा था। वही समय था जब महर्षि देवेंद्रनाथ ने एक सम्बन्धी का डाक से भेजा हुआ पत्र इसलिए लौटा दिया था कि उस पर पता बंगला की जगह अंग्रेज़ी में लिखा था। देश का हृदय कलकत्ता था और कलकत्ते का हृदय टैगोर-परिवार। रवींद्र के बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ एक मासिक पत्रिका 'भारती' का सम्पादन करते थे। एक दूसरे बड़े भाई ज्योतींद्रनाथ एक बड़े ऊँचे कलाकार थे। अन्य भाई और भतीजे भी कला के रसिक थे। कोई नाटक लिखता तो कोई गीतों की रचना करता। किसी की अभिनय में रुचि थी तो किसी की चित्रकला में। सारा दिन घर में नाटकों के अभिनय होते और रवींद्र उनमें विशेष भाग लेता। ऐसा वातावरण पाकर रवींद्र की प्रतिभा का पनपना स्वाभाविक था।

आठ बरस की आयु में रवींद्र ने कविता लिखना आरम्भ कर दिया था। बारह बरस की आयु की लिखी उनकी कविता एक पत्रिका में छपी मिलती है। साहित्यिक पत्रिका 'भारती' का सम्पादन घर ही में होता था। रवींद्र को उसमें कविता, निबंध और अन्य रचनाएँ लिखने का अवसर सुलभ था। यह पत्र आज भी बंगला के प्रतिष्ठित पत्रों में से है। १८९१ ई० में अपने एक भतीजे के सहयोग से रवींद्र ने एक और साहित्यिक पत्र 'साधना' निकाला जिसके लिए अधिकतर स्वयं उन्हें ही लिखना पड़ता था। रवींद्र की प्रतिभा सर्वतोमुखी

थी। कविता, कहानी, निबंध, नाटक, उपन्यास कुछ भी उस प्रतिभा की पहुँच से बाहिर न था। कदाचित् रवींद्र अपने लेखन-कार्य में शिथिल हो जाते परंतु स्वयं अपने द्वारा और बंधु बांधवों द्वारा सम्पादित पत्रों के लिए लिखना ही होता था। कवि-सम्राट् की रचनाओं की बहुलता का कारण जहां उनकी अपूर्व प्रतिभा थी वहां सम्पादन-कार्य का उत्तरदायित्व भी था।

कवि की प्रतिभा को विकास की ओर ले जाने के लिए जहां घर के वातावरण का सहयोग मिला वहां उस प्रतिभा के क्षेत्र को विशालता प्रदान करने के लिए संसार-परिभ्रमण की सहायता भी प्राप्त हुई। कदाचित् महर्षि देवेंद्रनाथ की दूरदर्शी बुद्धि ने अपने बेटे की मनोभावनाओं और शक्तियों को ताड़ लिया था और वे उसे घर की चार-दीवारी से निकाल कर प्रकृति के विशाल आंगन में ले जाने लगे। पहले-पहल जब वे उसे अपने साथ अपने एकांतवास-स्थान शांति-निकेतन में ले गए तो रवींद्र को मानों सौंदर्य-रत्नों की निधि मिल गई हो। सारा २ दिन वह आसपास के प्रदेश की शोभा को देखने और प्रकृति के बाह्य रहस्यों को समझने के लिए फिरते रहते। खाना पीना पहनना उसके लिए गौण बातें थीं। तत्पश्चात् एक बार महर्षि उसे अपने साथ उत्तर भारत और हिमालय की यात्रा के लिए ले गए। पंजाब में डेलहौजी के स्थान पर हिमाचल की स्निग्ध गोदी में बैठकर कवि-हृदय को जो आह्लाद प्राप्त हुआ होगा, वह अवर्णनीय है। जैसे कोई नवजात पक्षी कुछ देर तक अपने वृक्ष की डालियों ही को सकल विश्व समझने के बाद विस्तृत आकाश

को पता-रवींद्र अभ्रभापी हिमालय को देखकर आश्चर्य-चकित हो गया। प्रकृति-निरीक्षण के अपने कौतूहल को शांत करने के लिए एक बार रवींद्र ने प्रयत्न किया कि बैलगाड़ी पर भारत की यात्रा की जाय परंतु वह योजना कार्यान्वित न हो सकी। रवींद्र में आविर्भूत प्राचीन भारत की आत्मा रेलगाड़ी के आविष्कृत तथा प्रचलित हो जाने पर भी पुराने ढंग की यात्रा के लिए लालायित थी।

१७ बरस की आयु में रवींद्र को उसके बड़े भाई सत्येन्द्रनाथ टैगोर के पास, जो अहमदाबाद में जज थे, भेज दिया गया। वहां से उसे अपने उसी भाई और उसके परिवार के साथ विलायत जाने का अवसर मिला। वह लगभग दो बरस तक इंग्लैंड में रहा और एक दो शिक्षणालयों में कुछ समय के लिए शिक्षा भी पाई। इंग्लैंड की यात्रा से रवींद्र को कई नए अनुभव हुए। उसने देखा कि वहां के लोग किस प्रकार भारत के लोगों से अधिक परिश्रमी और कर्मनिष्ठ हैं। ठंडे देशों में जीवन-निर्वाह के लिए मनुष्य को अधिक खान-पान और वस्त्र की आवश्यकता है और प्रकृति के साथ संघर्ष किए बिना ये आवश्यकताएँ पूरी होना कठिन है। भारत के जलवायु में मनुष्य की आवश्यकताएँ भी कम हैं और प्रकृति की उदारता से वे हैं भी सुलभ अतः भारतीय मानव ने प्रकृति के साथ संघर्ष का सम्बन्ध न बनाकर प्रेम और सहानुभूति का सम्बन्ध बनाया है। योरुप तथा भारत के जीवन के इस आधारभूत

अंतर को रवींद्र ने इंग्लैंड के निवास के समय हृदयंगत कर लिया। योरुप की कर्मनिष्ठता तथा संघर्षप्रियता से उत्पन्न होने वाले गुण-दोषों को भी कवि ने समझ लिया।

अब हम कवि-सम्राट् के बाल्यकाल को पीछे छोड़ रहे हैं और अब आगे उन्हें आदरसूचक बहुवचन शब्द ही से वर्णन करेंगे।

विलायत से लौट कर रवींद्रनाथ साहित्य-सृजन-कार्य में जुट गए। बीच में एकबार फिर से विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करने का विचार हुआ और वे चल भी पड़े परंतु 'मद्रास' से लौट आए। कवि का कोमल और सौंदर्य-पिपासु हृदय क़ानून की बाल की खाल निकालने के लिए नहीं बना था। २२ वर्ष की आयु में रवींद्रनाथ का विवाह श्री वेनराय चौधरी की सुपुत्री मृणालिनी देवी से हो गया। मृणालिनी देवी सती साध्वी और पति-परायणा महिला थी। रवींद्रनाथ की उन दिनों की रचनाओं को पढ़कर बंकिमचंद्र चटर्जी इतने प्रभावित हुए कि एक साहित्य-सभा में उन्होंने जनता द्वारा अपने गले में डाली गई पुष्पमाला को उतार कर नवयुवक रवींद्रनाथ के गले में डाल दिया। इन्हीं दिनों रवींद्रनाथ की भावज, बड़े भाई ज्योतींद्रनाथ की पत्नी का देहान्त हुआ, जिसे वे अपनी माता की मृत्यु के पश्चात् माता ही के समान समझते थे। इस मृत्यु का उनके हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा।

अब पिता जी की आज्ञा से रवींद्रनाथ ने जमींदारी के

प्रबंध का कार्यभार सँभाला। यद्यपि यह कार्य पहले-पहल कवि-प्रकृति के लिए प्रतिकूल जान पड़ा परंतु रवींद्रनाथ ने इसमें मन लगाया और काम सुचारुरूप से चलने लगा। अब तक कवि को प्रकृति और मानव के सौंदर्य को देखने का अवसर मिला था। अब उनका सम्पर्क बंग देश की निर्धन जनता से हुआ जो दारिद्रय और अज्ञान से उत्पन्न होने वाले दुःखों से पीड़ित हुई भी किसी गुह्य विश्वास के आधार पर जीवन-यापन किए जा रही थी। निर्धन जनता की वेदनाओं से कवि हृदय स्पंदित हो उठा और कवि-प्रतिभा के लिए एक नया विशाल क्षेत्र खुल गया। जनता के साथ रवींद्रनाथ का सम्बन्ध सहानुभूति-पूर्ण था। इस जीवन में पद्मा नदी उनके विनोद का स्थान थी। उसमें नाव पर घूम फिर कर वे जमींदारी का काम देखते और चारों ओर फैले प्राकृतिक सौंदर्य का रस लेते। उस अवस्था में भी साहित्य-रचना और गान-वादना उनके साथी रहे।

१८९८ ई० में रवींद्रनाथ टैगोर ने 'भारती' पत्रिका का सम्पादन-भार स्वयं अपने ऊपर ले लिया। १९०१ ई० में उन्होंने बंकिमचंद्र चटर्जी के पत्र 'बंग दर्शन' का सम्पादन-कार्य भी सँभाल लिया।

यद्यपि रवींद्रनाथ टैगोर ने सक्रिय राजनीति के क्षेत्र में अपना कोई स्थान न बनाया और वे मुख्यतः साहित्य सेवी, कलाकार और विचारक रहे तथापि उनकी सहानुभूति सदा राष्ट्रीय शक्तियों के साथ रही और उन्होंने अपने ढंग से राष्ट्रीय जागरण में पूरा सहयोग दिया। उन्होंने अंग्रेजी सरकार की

दमन-नीति का सदा विरोध किया। लोकमान्य तिलक के बंदी किए जाने के समय उन्होंने अपने लेखों से जनता में बहुत उत्तेजना फैलाई। इसी तरह १६०५ ई० में जब लार्ड कर्ज़न ने बंगाल के दो टुकड़े कर दिए तो उसके विरोधांदोलन में उन्होंने विशेष भाग लिया। बंगभंग के विरोध के रूप में जब प्रांत भर में रक्षा-बंधनोत्सव मनाने का निश्चय हुआ तो कवि-सम्राट् ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'राखी' लिखी। इस कविता को जनता ने सामूहिक रूप में गाया। उस अवसर पर निकाले गए जुलूस का नेतृत्व स्वयं रवींद्रनाथ टैगोर कर रहे थे। जब सरकार ने इस आंदोलन को दबाने के लिए कठोर दमनचक्र चलाया तो उन्होंने सरकार की नीति की भरसक निंदा की। १६०६ में उन्होंने बंगाल प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन का सभापति बनना भी स्वीकार किया। साधारणतया राजनीति से पृथक् रहते हुए भी देश पर संकट आने के समय वे आग में कूद पड़ने से न कतराए। ऐसे ही जब श्री अरविंद घोष को राजद्रोहात्मक लेख लिखने के अपराध में कारावास का दंड मिला तो रवींद्रनाथ ने उनका अभिनंदन करने के लिए एक कविता लिखी। सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि दी थी परंतु जब पंजाब में जलियांवाला बाग़ का हत्या-कांड हुआ तो उन्होंने वह उपाधि सरकार को लौटा दी और सरकार की दमन-नीति की घोर निंदा की। राजनीति में उनका गांधी जी के साथ मतभेद रहा परंतु दोनों महापुरुषों का पारस्परिक सौहार्द कभी कम न हुआ और एक हृदय से दूसरे की ओर स्नेह की स्वच्छ धारा निरंतर बहती रही।

बाल्यकाल ही से रवींद्रनाथ टैगोर को भारतवर्ष में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के प्रति अरुचि और अश्रद्धा थी। उनके सामने प्राचीन भारत के ऋषि-आश्रमों का आदर्श था। उनके अंतःकरण में बहुत देर से एक ऐसी आदर्श शिक्षा-संस्था स्थापित करने की आकांक्षा निहित थी जिसमें विद्यार्थियों की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का पूरा विकास हो सके। जहां ज्ञान विद्यार्थियों के मस्तिष्क में बाहिर से ठोंसा न जाए प्रत्युत् स्वयं उनके अंतरतम से स्रवित हो; जहां ईंट चूने पत्थर आदि निर्जीव पदार्थों का आधिपत्य न हो प्रत्युत् स्निग्ध तथा सहानुभूतिपूर्ण प्रकृति देवी का राज्य हो और जहां गुरु शिष्य का घंटों और मिंटों का नहीं प्रत्युत् जीवन और हृदय का सम्बन्ध हो। अंत में अपने आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए वे १६०१ ई० में शांति-निकेतन नाम के उसी स्थान पर जहां महर्षि देवेंद्रनाथ आत्मचिंतन और एकांतवास के लिए आया करते थे और जिसे अपने बचपन में देखकर वे आनंदाप्लावित हो गए थे, एक ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित करके जा बैठे। उस आश्रम में पुरानी पद्धति के अनुसार शिक्षा-दीक्षा का कार्य होता था। रवींद्रनाथ टैगोर स्वयं खेलने कूदने, कहानियां सुनाने और भोजन आदि में विद्यार्थियों का साथ देते। आश्रम के व्यय को चलाने के लिए उन्होंने अपने एक सुन्दर मकान और पुस्तकालय को बेच डाला। इसी के लिए उनकी धर्मपत्नी ने अपने भूषण बेच दिए। उनकी धर्मपत्नी स्वयं भोजन बनातीं और अपने हाथों से विद्यार्थियों को खिलातीं। उस साध्वी को बहुत थोड़े काल

आश्रम की सेवा करने का अवसर मिला। १९०२ ई० में उनका देहांत हो गया। रवींद्रनाथ के लिए यह एक भीषण वज्रपात था परंतु जीवन में बहुधा एक के बाद दूसरी दुखद घटनाएँ मनुष्य के धैर्य की परीक्षा करती हैं। अगले ही वर्ष उनकी छोटी पुत्री की मृत्यु हो गई। १९०५ ई० में महर्षि देवेंद्रनाथ परलोक को चल दिए।

जीवन के ऐसे आघात लघुसत्त्व लोगों को हतोत्साह और अधीर कर देते हैं परन्तु महापुरुषों को अपनी जीवन-साधना के पथ पर अधिक जागरूकता के साथ अग्रसर होने में अंकुशरूप सिद्ध होते हैं। रवींद्रनाथ टैगोर अपने आश्रम और साहित्य-रचना के कार्य में निरंतर संलग्न रहे। उनके सर्वोत्तम उपन्यासों में गिना जाने वाला उपन्यास 'गोरा' उन्हीं दिनों 'प्रवासी' पत्र में छपा। उन्हीं दिनों उनकी जगद्विख्यात रचना 'गीतांजलि' की रचना हुई। १९११ ई० में शांति-निकेतन में रवींद्रनाथ की पचासवीं वर्षगांठ बड़े समारोह से मनाई गई। उस अवसर पर उनके एक स्वरचित नाटक का अभिनय किया गया जिसमें उन्होंने स्वयं भी भाग लिया। १९१२ ई० में बंगाल के साहित्यिकों, विद्वानों और गण्यमान्य व्यक्तियों ने कवि-सम्राट् को सार्वजनिक रूप में सम्मानित करने का बृहदायोजन किया। कलकत्ते के टाऊनहाल में समारोह किया गया। नगर तथा प्रांत के गण्यमान्य व्यक्ति एकत्रित थे। अर्घ्यदान के बाद सोने के थाल में स्वर्णनिर्मित पुष्प तथा हाथी-दांत पर अंकित अभिनंदन-लेख प्रदान किया गया। अपने देशवासियों द्वारा

अपनी साधना का यह सम्मान पाकर कवि को कितना हार्दिक आनंद हुआ होगा। अगले ही वर्ष एक दूसरे पुरस्कार ने कवि-सम्राट् की ख्याति को संसार के कोने २ में पहुँचा दिया और वे केवल भारत के नहीं प्रत्युत् सकल संसार के अग्रगण्य कवि माने गए।

१९१२ ई० में वे अपने आश्रम को समुचित रूप से उन्नत करने के लिए पश्चिम की शिक्षा-संस्थाओं को देखने के विचार से विलायत गए। वहां उनका परिचय आयरलैंड के प्रसिद्ध कवि यीट्स से हुआ। रवींद्रनाथ ने गीतांजलि की अपनी कुछ कविताओं का स्वयं अंग्रेजी अनुवाद किया था, जिन्हें पढ़कर यीट्स महोदय मुग्ध हो गए। उन्होंने उन कविताओं को इंग्लैंड के अन्य विद्वानों और साहित्य-सेवियों तक पहुंचाया। होते २ उनकी ख्याति योरुप के अन्य देशों के विद्वानों तक पहुँची। स्वीडन देश के एक वैज्ञानिक ने अपनी सारी आय एक ऐसी विद्वानों की सभा को सौंप रखी है जो उस आय से प्रतिवर्ष भिन्न २ विषयों के अग्रगण्य महारथियों को पुरस्कार देती है। एक पुरस्कार १ लाख २० हजार रुपये का होता है और उसका नाम उक्त वैज्ञानिक के नाम पर नोबेल-पुरस्कार है। जब उस सभा के सदस्यों तक कवि-सम्राट् की कृति 'गीतांजलि' का अनुवाद पहुँचा तो उन्होंने उस कृति को पुरस्कार के योग्य निर्णीत किया। १९१३ ई० में जब रवींद्रनाथ योरुप और अमेरिका के भ्रमण के पश्चात् भारत पहुँचे तो कुछ ही दिनों बाद उन्हें नोबेल-पुरस्कार प्राप्त होने की सूचना मिली। इससे पहले एशिया में

किसी को यह पुरस्कार नहीं मिला था। भारतीयों के हर्ष का पारावार न रहा। राष्ट्रीय आत्म-सम्मान जागृत हो उठा। शांति-निकेतन में कवि का अभिनंदन करने के लिए कलकत्ते से स्पेशल गाड़ी में संभ्रान्त नागरिक पहुँचे। दूसरे ही मास कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें डाक्टर ऑफ लिटरेचर की उपाधि प्रदान की।

अब रवींद्रनाथ टैगोर केवल भारत के न रहकर सकल संसार के हो गए थे। संसार ने उन्हें भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकृत कर लिया था और सब देश उनके संदेश को सुनने के लिए लालायित थे। वे विश्व-संस्कृति के अग्रदूत बनकर विश्वयात्रा के लिए निकले। जहां वे गए वहां उन्होंने उन आदर्श सिद्धांतों का संदेश सुनाया जिनका साक्षात्कार प्राचीन भारत के ऋषियों ने बहुत पहले कर लिया था, जिन सिद्धांतों के पोषक कतिपय महापुरुष संसार के अन्य देशों में भी उत्पन्न होते रहे थे और जिन सिद्धांतों को जीवन में सजीव रूप देकर ही मानव, सुख और सफलता की ओर अग्रसर हो सकता है। वह संदेश प्रेम, सहानुभूति और समन्वय का संदेश था। वह संकुचित राष्ट्रीयता की दीवारों को तोड़ने, विश्व को एक कुटुम्ब समझने, मानव-मानव में घृणास्पद भेदभाव को मिटाने और संसार को स्वर्ग बनाने का संदेश था। वह संदेश राष्ट्र और राष्ट्र के परस्पर संघर्ष, एक दूसरे के आर्थिक शोषण और राजनीतिक दासता को मिटाने का था।

विश्व-कवि की मधुर तान को विश्व ने तन्मय होकर सुना और विश्व में भारत का मुख समुज्ज्वल हुआ।

१९१६ ई० में वे दीनबन्धु ऐंडरूज़ के साथ जापान गए। वहां उनका सार्वजनिक रूप से स्वागत हुआ। जापान की ओर से उस समय चीन के साथ जो अमानुषिक व्यवहार हो रहा था, हमारे वीर कवि ने उसकी तीव्र आलोचना की, जिसे बहुत से जापानियों ने उस समय बुरा माना परंतु आज का जापान, साम्राज्यवाद और अहंमन्यता के उस मद से मुक्त हुआ हुआ, भारत के उस कवि की चेतावनी और भविष्यवाणी को अवश्य स्मरण करता होगा। जापान से उन्हें कैनाडा जाने का निमंत्रण था परंतु वे उस व्यवहार के प्रति जो उस समय उस देश में भारतवासियों के साथ होता था, अपने विरोध का प्रदर्शन करने के लिए वहां न जाकर अमेरिका पहुँचे। वहां भिन्न २ नगरों में उनके भाषण हुए और नाटक भी खेले गए। उस देश में पाए जाने वाले काले-गोरे के भेद-भाव पर उन्होंने कड़ी आलोचना की। विश्वयुद्ध के कारण वे उस समय योरुप न जाकर १९१७ में भारत लौट आए। १९१८ ई० में वे फिर योरुप जाने को उद्यत हुए तो बंगाल सरकार ने उन पर यह आरोप लगाकर कि उनका क्रांतिकारियों तथा जर्मनी के साथ सम्बन्ध है और वे अंग्रेजों के विरुद्ध प्रचार करने जा रहे हैं, उनका जाना रुकवा दिया। कुछ देर तक उन्होंने भारत के नगरों का भ्रमण किया।

१९२० ई० में उन्होंने योरुप की यात्रा के लिए प्रस्थान किया वहां उनका जो स्वागत हुआ, उसका वर्णन कठिन है।

योरुप अभी २ युद्ध-यातना से मुक्त हुआ था। बीमारी से उठे व्यक्ति के समान उसकी रुचि उन दिनों श्रेयमार्ग की ओर थी। वह तीव्र प्रवृत्ति के परिणाम को देख चुका था और उसकी श्रद्धा निवृत्ति की ओर बढ़ने लगी थी। हर एक देश की जनता कवि की वाणी को अपने घावों पर मरहम के समान समझती थी। ऐसे ही समय होते हैं जब जातियां किसी नई सतोगुणी विचारधारा को अनायास ही अपना लेती हैं, जब वे किसी नए ऊर्ध्वगामी मार्ग को आसानी से ग्रहण कर लेती हैं। अपनी ज्योति को पर्याप्त न पाकर योरुप भारत की इस दिव्य ज्योति की ओर आशा की दृष्टि से देख रहा था। युद्ध के बाद का समय, विशेषत: पराजित देशों के लिए, ऐसा समय होता है जब विज्ञान कला के सामने हार मान लेता है। ऐसे ही समय में रवींद्रनाथ टैगोर योरुप गए थे।

फ्रांस में महाविद्वान् सिल्वन लेवी ने उनका स्वागत करते हुए कहा कि—"बुद्ध, व्यास, वाल्मीकि, अश्वघोष तथा कालिदास आदि के रूप में जो भारतीय प्रतिभा समय २ पर प्रस्फुटित होती रही है, वही जाज्वल्यमान भारतीय प्रतिभा आज रवींद्र नाथ के रूप में प्रकट हुई है।" वहीं फ्रांस में एक प्रसिद्ध कवयित्री ने रवींद्रनाथ को बताया कि जिस समय योरुप का युद्ध घोषित हुआ उस समय वह फ्रांस के प्रधानमंत्री के पास थी और प्रधानमंत्री ने उस समय अपने हृदय के संक्षोभ को शांत करने के लिए उससे गीतांजलि का पाठ सुना था। कवि की कविता का इससे अधिक सम्मान क्या हो सकता था? डेनमार्क में कोपनहेगन के विश्वविद्यालय में रात को व्याख्यान के पश्चात्

छात्रों ने, जिनके हाथों में प्रज्वलित दीपक थे, उन्हें चारों ओर से घेर लिया और जनता की अपार भीड़ में उनका जुलूस निकाला। डेनमार्क के पश्चात् वे नोबेल-पुरस्कार देने वाले देश स्वीडन में गए। पुरस्कार देनेवाली सभा ने उनको निमंत्रित किया, विश्वविद्यालय में उनका अभिनंदन किया गया और वहां के प्रधान पादरी और बादशाह के साथ उन्होंने भोजन किया। जर्मनी में बर्लिन विश्वविद्यालय ने जिस हाल में उन्हें अभिनंदित करने का निश्चय किया था, वह हाल समय से पहले ही छात्रों और दर्शकों से ऐसा खचाखच भर गया कि कवि और उनके साथियों को अंदर लाने के लिए कठिनाई हुई। तब छात्रों को एक अलग व्याख्यान देने का वचन देकर स्थान बनाने के लिए प्रेरित किया गया। जर्मनी में उनकी 'साधना' नामक पुस्तक के जर्मन अनुवाद की ५० हज़ार प्रतियां तीन सप्ताह में बिक गईं। यही हाल उनकी कई दूसरी पुस्तकों का था। यदि जर्मन मार्क की क़ीमत गिर न गई होती तो कवि को लाखों की आय होती। १६२१ में रवींद्रनाथ योरुप की यात्रा से भारत लौट आए।

रवींद्रनाथ टैगोर ने योरुप की सब मिलाकर बारह यात्राएँ की थीं और इन यात्राओं में उन्हें योरुप के महापुरुषों, बर्नार्डशॉ चित्रकार तथा दार्शनिक रोरिक, सिल्वनलेवी, रोमां, रोलां, मसोलिनी, हिंडनबर्ग आदि से मिलने का अवसर मिला। योरुप के सभी प्रमुख साहित्यिकों से उनकी भेंट हुई।

१६२४ ई० में चीन के निमंत्रण पर वे उस देश में गए। पेकिंग विश्वविद्यालय में ५ हज़ार विद्यार्थियों के समारोह में

उनका अभिनंदन किया गया, चीन के सम्राट् ने स्वयं कवि-सम्राट् का स्वागत किया। चीन को देखकर रवींद्रनाथ पर बहुत प्रभाव पड़ा। चीन की संस्कृति का भारत की संस्कृति से बहुत प्राचीन सम्बन्ध है और दोनों में बहुत सादृश्य है। कवि की दिव्य दृष्टि को चीन में भारत की आत्मा की झलक दिखाई दी। भारत के भिक्षु-दल के दल हिमाचल की तुंग घाटियों या ठाठें मारते समुद्रों को पार करके भगवान् बुद्ध का संदेश सुनाने के लिए, सहस्रों बरस पहले चीन में पहुँचते रहे थे और चीन के यात्री अपने उपास्यदेव की जन्मभूमि को देखने के लिए उसी प्राचीन समय से भारत में पधारते रहे थे। अब सैंकड़ों बरसों से चीन और भारत का सांस्कृतिक सम्पर्क विच्छिन्न हो गया था। इस सम्पर्क को पुनः स्थापित करने के लिए रवींद्रनाथ टैगोर ने शांति-निकेतन में चीन भवन की स्थापना की, जिसमें चीनी संस्कृति का अध्ययन और चीन और भारत की संस्कृति के समन्वय का प्रयत्न हो रहा है।

रवींद्रनाथ टैगोर ने जैकोस्लावाकिया, आस्ट्रिया, हंगरी, रूमानिया, बलगेरिया, यूनान, मलाया, जावा, बाली स्याम आदि देशों की यात्राएं भी की थीं और सब कहीं उनका स्वागत किया गया था।

१६३० ई० में कवींद्र ने रूस की यात्रा की। रूस के साम्य-वादी शासन को उन्होंने अपनी आंखों से देखकर उसके सम्बन्ध में अपने भारतीय मित्रों को पत्र लिखे। रूस की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं ने उनका बड़ी धूमधाम से स्वागत

किया वहां के लेखकों के नाटकों का अभिनय भी उन्हें दिखाया गया। रूस की यात्रा से वे बहुत प्रभावित हुए। १९३२ ई० में वे ईरान के बादशाह रजाशाह पहलवी के आमंत्रण पर उस देश में गए और बड़े समारोह से अभिनंदित हुए।

जिस संस्था को रवींद्रनाथ टैगोर ने १९०१ में शांति-निकेतन में एक छोटे से रूप में आरम्भ किया था वह समुन्नत होते २ १९१२ ई० में विश्वभारती नाम से एक विश्वविद्यालय का रूप धारण कर गई। कवींद्र ने अपनी सम्पत्ति, पुस्तकें, पुस्तकों की आय, नोबेल-पुरस्कार का रुपया आदि सब कुछ संस्था के लिए अर्पित कर दिया था। उनका जीवन-सर्वस्व इसी संस्था की भेंट था। इसी संस्था के लिए वे जीवन के अंतिम दिनों तक परिभ्रमण करके धनसंग्रह करते रहे। धनसंग्रह करने के लिए इतनी बड़ी आयु में अभनिय करने वाली छात्रों की टोलियों को लिए फिरते देखकर गांधी जी ने भी विश्वभारती के लिए जोरदार अपील की थी।

कवींद्र का उद्देश्य विश्वभारती को विश्व की भिन्न २ संस्कृतियों का समन्वय-स्थान तथा मिलन-केंद्र बनाना था। उन्होंने एक ऐसी वाटिका लगाई थी जिसमें विश्व की सभी संस्कृति-वाटिकाओं के पुष्पों को संगृहीत करना था। विश्वभारती नाम ही उद्देश्य का प्रतीक है। कवि के जीवन-काल ही में विश्वभारती संसार के लिए तीर्थस्थान बन गई थी। गांधी जी कई बार वहां गए। विदेशों के विद्वान् और कलाकार भी सदा वहां आते जाते रहे। कौनसा विदेशी यात्री होगा जो भारत को देखने आए और विश्वभारती को देखे बिना वापस हो जाए। विश्वभारती का

भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। कवि के शरीर छोड़ जाने पर भी भारत और विशेषतः स्वाधीन भारत इस संस्था की महत्ता को समझता है और इसे एक आदर्श तथा अद्वितीय विश्वविद्यालय बनाने के लिए प्रयत्नशील है।

विश्वभारती की एक ग्रामसुधार सम्बन्धी शाखा 'श्रीनिकेतन' भी है। इसका आरम्भ एक अंग्रेज महानुभाव के दान से हुआ और यह संस्था आसपास के ग्रामों में सुधार का कार्य कर रही है।

रवींद्रनाथ टैगोर केवल कवि और साहित्यिक ही नहीं थे प्रत्युत् वे अन्य बहुत विषयों के प्रकांड विद्वान् भी थे। १६२८ ई० में आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय ने उन्हें दर्शन-शास्त्र पर व्याख्यान देने के लिए वहां बुलाया। यह एक अभूतपूर्व सम्मान था जो उस समय तक किसी भारतीय को प्राप्त नहीं हुआ था। उन्होंने ये व्याख्यान देकर अपूर्व ख्याति प्राप्त की।

भारत तथा संसार के बहुत से विश्वविद्यालयों ने उन्हें उपाधियां दी थीं। १६४० ई० में आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय ने कलकत्ते में एक विशेष दीक्षांत संस्कार कराकर भारत के चीफ़ जस्टिस सर मारिस ग्वेयर की अध्यक्षता में उन्हें डाक्टर ऑफ़ लैटर्ज़ की उपाधि प्रदान की। भारत के विद्याविलासी तथा साहित्य-सेवी व्यक्तियों ने उन्हें 'कवि-सम्राट्' 'भारत-भास्कर' और 'कवि-सार्वभौम' आदि कह कर पुकारा। भारत सरकार की दी हुई 'सर' की उपाधि को उन्होंने जैसा कि पहले कहा जा चुका है, १६१६ ई० में ठुकरा दिया था।

रवींद्रनाथ टैगोर भारत ही नहीं विश्व की एक अनुपम विभूति थे। प्राचीन भारत की आत्मा ने उनके रूप में अवतीर्ण होकर आधुनिक काल के लिए एक आदर्श जीवन का उदाहरण प्रस्तुत किया। सुंदर गौर वर्ण, हवा में उड़ते हुए सिर तथा दाढ़ी के लम्बे बाल, ऋषियों का सा वेश, सिर से पांव तक सौंदर्य तथा स्वास्थ्य के अवतार। अमेरिका में उनको देखकर ठीक ही एक बच्चे ने उत्सुकता से पूछा था कि—"क्या ये जीसस क्राइस्ट हैं।" उनको देखकर आंखें तृप्त न होती थीं, मन भरता न था। वाणी में कितना ओज था और कैसी मधुरता थी! उनकी काव्य-प्रतिभा का तो क्या ही कहना है! संसार के इतिहास में दूसरा कोई उदाहरण नहीं है कि जहां, कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, साहित्य-समीक्षा, अभिनय और संगीत का ऐसा उच्चकोटि का संमिश्रण हो। सत्य तो यह है कि रवींद्रनाथ टैगोर ने जो भी कह दिया या लिख दिया वह उच्चकोटि का साहित्य सिद्ध हुआ। उनका रचित साहित्य किसी एक देश या एक काल के लिए नहीं है। उन्होंने मानवता के चौराहे पर खड़े होकर अपनी वाणी को ऊंचे स्वर से गाया और देश देशांतरों ने उनके गान को दत्तचित्त होकर सुना। उनकी शिक्षा सम्बन्धी प्रतिभा का प्रतीक विश्वभारती हमारे सामने है।

१६४१ ई० में ७ अगस्त को यह भारत-भास्कर अस्त हो गया, यह कीर्तिमय यशस्वी जीवन शांत हो गया। भारत तथा संसार के साहित्य-संस्कृति-नभ में अंधकार छा गया। ८० वर्ष

की यात्रा के पश्चात् यात्री अपने अदृश्य आवास स्थान को चल दिया। विश्व-प्रेम का अग्रदूत मूक हो गया।

रवींद्रनाथ टैगोर का शरीर भस्मसात् हो गया परंतु उनकी आत्मा हमारे पास सुरक्षित है। जब तक हमारे पास रवींद्र-साहित्य है, जब तक हमारे सामने विश्वभारती है, जब तक रवींद्र की वाणी हमारे कानों में गूँजती है तब तक वे मर नहीं सकते। वे अमर हैं।

भारत-कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू

प्राचीन भारत में स्त्री का स्थान समाज में बहुत ऊंचा था। सर्वतोमुखी उन्नति के द्वार पुरुष के समान स्त्री के लिए भी खुले थे। विद्योपार्जन का क्षेत्र स्त्री के लिए वर्जित न था। स्त्री जाति सम्मानित तथा आदृत थी। वेदों के मंत्रार्थ-द्रष्टा ऋषियों के नामों में बहुत से नाम स्त्रियों के भी हैं। ऐसे २ वेद-वाक्य हैं जिन में कहा गया है कि विदुषी कन्या के लिए विद्वान् पति होना चाहिए। भगवान् की विभूतियों के अधिकतर नाम स्त्रीलिंग हैं जैसे लक्ष्मी, सरस्वती, शक्ति, विद्या आदि। उपनिषदों में हम भारतीय रमणियों को याज्ञवल्क्य जैसे ऋषियों से ब्रह्म विद्या पर वार्त्तालाप तथा विवाद करते देखते हैं। मनुस्मृति में हम पढ़ते हैं—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" जहां स्त्रियों का आदर सन्मान होता है वहां देवता रमण करते हैं।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी भारतवर्ष में वह समय आया जब कि देश का अधःपतन हुआ और उस अधःपतन में स्त्री का सामान्य स्थान अक्षुण्ण न रह सका। जब सारा भारतीय समाज पतन के गर्त्त में गिरा तो स्त्री ही कैसे अपवाद-स्वरूप रह सकती थी। लज्जा, सेवा, त्याग, श्रद्धा आदि अनेक गुण धारण करती हुई भी भारतीय स्त्री समाज में समानता के स्थान को खो बैठी। उस के लिए विद्योपार्जन के द्वार बंद हो गए।

घर का संकीर्ण आंगन ही उसका कार्यक्षेत्र रह गया। वातावरण की इस संकीर्णता से स्त्री के दृष्टिकोण में भी संकीर्णता आ गई। बहुत ही छोटी आयु में कन्या का विवाह कर देने को लोग पुण्य समझने लगे और कन्या को पढ़ाने-लिखाने को पाप। आधुनिक काल के स्त्री-शिक्षा के आरम्भिक इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि इस कार्य में लगने वाले सुधारकों को कितने विरोध का सामना करना पड़ा है और लोगों की क्या २ कटूक्तियां सुननी पड़ी हैं। यद्यपि इस पराधीनता तथा पतन के युग में भी कहीं २ मीराबाई तथा अहिल्याबाई जैसी देवियां उत्पन्न हुईं तथापि साधारणतया स्त्री जाति आत्म-विस्मृति की गाढ़ निद्रा में निमग्न थी।

पश्चिम के साथ सम्पर्क में आने पर, पाश्चात्य संस्कृति का आघात सहन करने पर, योरुप की विचारधारा के साथ संसर्ग होने पर भारत की सुप्त आत्मा जागी। सूख कर ठुंठमुंड हुए इस महावट में फिर से कोंपलें उत्पन्न हुईं। एक सांस्कृतिक जागरण बंगाल से आरम्भ हुआ और भारतवर्ष में फैल गया। समाज के दूसरे अंगों में जीवन-संचार होने के साथ स्त्री जाति में भी जागृति आई। शिक्षा का द्वार स्त्रियों के लिए भी खुल गया। परन्तु आरम्भकाल में युवकों के समान युवतियों के लिए भी शिक्षा वही थी जिसका प्रबंध अंग्रेजी सरकार तथा ईसाई-धर्म-प्रचारक विदेशी समितियों ने हमारे लिए किया था। तत्पश्चात् भारतीय प्रयत्न से भी शिक्षा-संस्थाएं स्थापित हुईं परन्तु पाठ्य-क्रम लगभग वही रहा जो विदेशी सरकार ने हमारे लिए निश्चित

किया था।

यद्यपि उस विदेशी ढंग की शिक्षा ने देश को वह जीवन-ज्योति तो न दी जो वास्तविक शिक्षा का ध्येय होना चाहिए तथापि उसने हमारे देश को नेतृत्व करने वाले बहुत से स्त्री पुरुष दिए। दूसरे शब्दों में—क्योंकि कोई दूसरी शिक्षा-प्रणाली प्रचलित थी ही नहीं अतः जो भी विदुषी देवियां तथा महा-पुरुष उत्पन्न हो सकते थे, इसी प्रचलित प्रणाली में से हो सकते थे। हां, पाश्चात्य विचारधारा तथा विद्या-भंडार के सम्पर्क से भारत को लाभ पहुंचना भी स्वाभाविक था।

भारतीय जागरण के उस अरुणोदय-काल में भारत में जिन जिन विभूतियों का आविर्भाव हुआ उन में से एक विशेष विभूति थी भारत-कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू।

सरोजिनी का जन्म १३ फर्वरी, १८७९ को दक्षिण-भारत के हैदराबाद नगर में हुआ। उन के पिता श्री अघोरनाथ चट्टो-पाध्याय पूर्वीय बङ्गाल के एक ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने १८७७ में एडनबरा से डाक्टर ऑफ़ साइंस की उपाधि ली और तत्पश्चात् कुछ देर तक जर्मनी में विद्याध्ययन करके वे भारत लौटे। उन्होंने हैदराबाद में निजाम कालिज की स्थापना की। अघोरनाथ चट्टोपाध्याय सरस्वती देवी के अनन्य उपासक थे। उन का सारा समय विद्या-विलास तथा अध्ययनाध्यापन ही में व्यतीत होता था। उनके हां बहुत से विद्या-विलासी जनों का आना-जाना रहता था। वे आने वालों का हार्दिक स्वागत करते थे और हर प्रकार से उनकी सहायता करते थे।

परोपकार और विज्ञान ही उनके दो व्यसन थे। यद्यपि उनकी शिक्षा विज्ञान की थी तथापि उन्हें कवि का हृदय मिला था। परन्तु सरोजिनी को काव्य-प्रतिभा पिता की अपेक्षा अधिक माता से मिली थी। माता वरदासुन्दरी वास्तव में कवि थीं। अपनी युवावस्था में उन्होंने बङ्गला में बहुत सी उच्च कोटि की कविताओं की रचना की थी।

सरोजिनी माता-पिता की सब से बड़ी संतान थीं। उनकी शिक्षा का आरम्भ, उस समय के सुशिक्षित वर्ग की रीति के अनुसार अंग्रेजी से किया गया। ६ बरस की आयु में एक बार उन्हें अंग्रेजी में सम्भाषण न कर सकने पर दंड मिला था। पिता सरोजिनी को गणित-शास्त्र तथा विज्ञान की विदुषी बनाना चाहते थे परन्तु बेटी को ये विषय शुष्क जान पड़ते थे। कल्पना-शील प्रकृति की उस कन्या ने तो आगे चल कर कवि बनना था। आप ने अपने एक पत्र में लिखा है—"एक दिन जब कि मेरी आयु ११ बरस की थी, मैं बीज-गणित के एक प्रश्न पर बैठी खीझ रही थी। प्रश्न ठीक निकलता नहीं था। उसके बदले एक पूरी कविता मेरे मन में आ गई और मैं ने उसे लिख डाला।' १२ बरस की आयु में सरोजिनी ने मद्रास विश्वविद्यालय से ऐंट्रैंस की परीक्षा पास कर ली। उन दिनों तो किसी कन्या का ऐंट्रैंस पास करना ही एक आश्चर्यजनक बात थी और फिर इतनी छोटी आयु में! सरोजिनी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था परन्तु उन्हें कविता-अध्ययन और काव्य-रचना की धुन लगी रहती थी। १३ बरस की आयु में उन्होंने स्काट कवि की कविता 'लेडी

ऑफ़ दी लेक' के ढंग पर १३०० पंक्तियों की एक अंग्रेज़ी कविता छः दिन में लिख डाली। उन दिनों सरोजिनी का स्वास्थ्य ऐसा था कि डाक्टर ने उन्हें पुस्तक को छूने तक से वर्जित कर दिया था। डाक्टर की इस आज्ञा की पूरे रूप से अवहेलना करने मात्र के भाव से सरोजिनी ने २००० पंक्तियों का एक काव्य-नाटक लिख डाला। १४ से १८ बरस की आयु तक सरोजिनी ने बहुत अध्ययन किया। इसी समय उन्होंने एक उपन्यास भी लिखा।

उसी छोटी आयु में सरोजिनी के जीवन का संग्राम आरम्भ हो गया। सरोजिनी का प्रेम श्री गोविंद राजलु नायडू से हो गया। डाक्टर गोविंद राजलु नायडू (सरोजिनी के भावी पति) यद्यपि एक कुलीन वंश के थे तथापि अब्राह्मण थे। सरोजिनी के घर वालों ने इस प्रेम-सम्बन्ध को बुरा समझा। नायडू के पक्ष वाले भी इसे उचित न समझते थे। सब ओर से विरोध देख कर सरोजिनी ने अपने प्रणय-सम्बन्ध को स्थगित तो कर दिया परन्तु उनसे विवाह का विचार नहीं छोड़ा।

१८९५ ई० में सरोजिनी निज़ाम की ओर से एक विशेष छात्रवृत्ति पाकर विलायत पढ़ने के लिए गईं परन्तु वहां भी उन का स्वास्थ्य अच्छा न रहा और वे १८९८ में भारत लौट आईं। इंग्लैंड में सरोजिनी ने अपने समय का बहुत सदुपयोग किया। विद्या लाभ के अतिरिक्त उन्होंने उस समय के अंग्रेज साहित्य-सेवियों से परिचय बढ़ाया। मिस्टर आर्थर साइमन और सर एडमंड गास उनके विशेष परिचित साहित्यिकों में से थे। उन्हीं दिनों सरोजिनी ने इटली की यात्रा भी की और उनके हृदय पर

उस देश का विशेष प्रभाव पड़ा।

विलायत से लौटकर तीसरे ही मास, १६ बरस की आयु में सरोजिनी ने अपने प्रणयपात्र श्री गोविंद राजलु नायडू से विवाह कर लिया। इस विवाह पर यद्यपि टिप्पणियां हुईं, तथापि सरोजिनी ने अपने स्वतंत्र विचारों को कार्यान्वित करके दिखा दिया। दम्पती का वैवाहिक जीवन नितांत सुखमय रहा। गृह-संचालन तथा संतान-पोषण के साथ २ सरोजिनी को काव्यानुशीलन तथा सार्वजनिक कार्यों के लिए भी समय मिलता रहा।

सरोजिनी नायडू के जीवन में तीन धाराएं स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं—कविता, सामाजिक कार्य तथा राजनीतिक कार्य। तीनों क्षेत्रों में उनका विशेष स्थान है।

कविता

सरोजिनी को अंग्रेजी भाषा में कविता लिखने का अभ्यास बाल्यकाल ही से था। १८९५ में जब वे इंग्लैंड गईं तो उनकी आयु केवल १६ बरस की थी परन्तु तब तक वे बहुत सी कविताएं लिख चुकी थीं। इंग्लैंड में उनका परिचय प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ सर ऐडमंड गास से हो गया। ऐडमंड गास ने यह जान कर कि सरोजिनी को अंग्रेजी में कविता लिखने की रुचि है, उन्हें अपनी कविताएं दिखाने को कहा। सरोजिनी ने अपनी कविताओं का बंडल दे दिया और उस अनुभवी विद्वान् ने एकांत में उन कविताओं का अध्ययन और मनन किया। उन्हें वे कवि-

ताएं कृत्रिम और प्रेरणाविहीन जान पड़ीं। उन पर उन कवि-ताओं का जो प्रभाव पड़ा उसको उन्होंने पश्चात् सरोजिनी की एक पुस्तक की भूमिका में इस प्रकार लिखा है, "श्रीमती सरो-जिनी ने जो पद्य मुझे दिए वे पिंगल, व्याकरण तथा भावों की दृष्टि से दोष-रहित थे; परन्तु उनमें बड़ी भारी कमी यह थी कि वे नितांत व्यक्तित्व-शून्य थे। भावों तथा कल्पना की दृष्टि से वे पाश्चात्य रंग में रँगे थे। उन में टैनीसन और शैली के रंगों का आभास होता था। यदि मैं भूल नहीं करता तो उनमें ईसाई मत का सा त्याग भी झलकता था। मैं ने विषादपूर्वक उन्हें उठा कर अलग रख दिया। यह तो अनुकरण करने वाले पक्षी की वाणी थी।" सर एडमंड गास ने काव्य-रचना के सम्बन्ध में सरोजिनी को जो सम्मति दी उस का तात्पर्य निम्नलिखित है—

"झूठे अंग्रेजी भावों में डूबी हुई अपनी सब रचनाओं को रद्दी की टोकरी में डाल दो। एक विचारशील भारतीय युवती से, जिसने हमारी भाषा ही नहीं हमारे पिंगल का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है, हम पाश्चात्य भावों तथा कल्पनाओं की आशा नहीं करते। हम उससे प्राच्य भावों और कल्पनाओं का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, धर्म के उन प्राचीन मंतव्यों का दिग्दर्शन करना चाहते हैं, जिन का प्राच्य देशों में उसी समय अनुभव हो चुका था जब पाश्चात्यों को अपनी स्थिति ही का ज्ञान नहीं था। तुम अपनी कविता में अंग्रेजी पक्षियों, रोबिन और लवा का वर्णन करना छोड़ दो। इसी प्रकार हमारे फूलों, फलों, वृक्षों तथा दृश्यों और भू-देशों के वर्णन का भी सदा के लिए परित्याग

कर दो; हमारे गिरजाघरों के घंटों को भूल जाओ। अपने देश और अपने प्रांत की नदियों, पर्वतों, मंदिरों, उद्यानों, वनस्पतियों तथा निवासियों का वर्णन करो—इन के सहज तथा प्राकृतिक भावों को व्यक्त करो। सारांश यह कि भारतीयता धारण करो; पाश्चात्य कवियों की अनुकृति करने की चेष्टा में अपने व्यक्तित्व का नाश न कर डालो।"

क्या ही अच्छी सम्मति है जो पाश्चात्य रंग में रँगे आज के युवक युवतियों के लिए भी शिक्षाप्रद है। सरोजिनी को यह बात लग गई। उन्होंने ध्यानपूर्वक उस वृद्ध साहित्य-सेवी की बात को सुना और स्वीकृत कर लिया। स्वयं सर ऐडमंड गास ने लिखा है कि "तत्पश्चात् श्रीमती सरोजिनी ने कोई ऐसी रचना नहीं की जिस में उनकी भारतीयता स्पष्ट न झलकती हो।" हम उस अंग्रेज साहित्य-मर्मज्ञ के कितने आभारी हैं कि उन्होंने कृत्रिम मार्ग पर जा रही सरोजिनी की प्रतिभा को परिवर्तन के लिए प्रेरित करके भारत को एक वास्तविक कवि प्रदान किया। अपनी कृतज्ञता को प्रकट करते हुए सरोजिनी ने अपनी प्रथम-प्रकाशित पुस्तक 'स्वर्ण देहली' (The Golden Threshold) उस विद्वान् को समर्पित की है और लिखा है, "यह पुस्तक सर ऐडमंड गास को समर्पित है जिन्हों ने सर्वप्रथम मुझे 'स्वर्ण देहली' का मार्ग दिखाया।"

'स्वर्ण देहली' १६०५ में प्रकाशित हुई। इस में १८६६ से १६०५ तक रचित कविताओं के संग्रह हैं। सब कविताएं उच्च कोटि की और चुनी हुई हैं। इस में बाल्यकाल तथा तरुणावस्था

के भाव हैं। इस पुस्तक के कई संस्करण निकले और सरोजिनी नायडू की ख्याति देश और विलायत में भी फैल गई। इंग्लैंड के लगभग सभी प्रसिद्ध पत्रों ने पुस्तक की प्रशंसा की।

सरोजिनी की दूसरी पुस्तक का शीर्षक है 'जीवन और मृत्यु-विषयक कविताएं (Poems of Life and Death) तीसरी पुस्तक काल-पक्षी (The Bird of Time) तो बहुत ही प्रसिद्ध हुई। यह १६१२ में प्रकाशित हुई और कदाचित् यही लेखिका की सर्वोत्तम कविता-पुस्तक है। इस में पहली कृतियों से अधिक प्रौढ़ता है। सरोजिनी की कविताओं की ख्याति अंग्रेजी भाषा-भाषी देशों तक ही नहीं पहुंची प्रत्युत् उनकी बहुत सी कविताओं के अनुवाद फ्रैंच तथा जर्मन भाषाओं में भी हुए। चौथी पुस्तक टूटा हुआ डैना (The Broken Wing) १६१७ में प्रकाशित हुई।

चौथी पुस्तक की कविताएं सरोजिनी ने सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना आरम्भ करने के पश्चात् लिखी थीं। ज्यों २ उनकी रुचि सामाजिक तथा राजनीतिक कामों की ओर बढ़ती गई त्यों त्यों उनकी कविताओं में प्रतिभा का ह्रास होता गया। समालोचकों ने उन्हें पहले से सावधान कर दिया था कि सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने से उनकी कविता को अवश्य क्षति पहुँचेगी परन्तु उन्होंने देश की पराधीन तथा पतित अवस्था में वीणा को छोड़ कर पताका को धारण करना ही उचित समझा। १६४२ ई० में उनकी सभी कविताओं का एक संस्करण निकला।

सरोजिनी नायडू की कविता यद्यपि अंग्रेज़ी भाषा में हुई तथापि भाव तथा कल्पनाएं उसमें सब भारतीय हैं। सर ऐडमंड गास की सम्मति को उन्होंने अक्षरशः ग्रहण किया। उन की कविताओं के बारे में किसी प्रसिद्ध पत्र ने लिखा था, "इन कविताओं ने एक ऐसा नया द्वार खोल दिया है जिस से, यदि पाश्चात्य लोग चाहें, तो पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।" रग भारतीय होते हुए भी किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं आ पाई है। विश्व-प्रेम की भावना ही कविताओं का आधार है। १६१५ की कांग्रेस में सरोजिनी ने एक कविता 'भारत माता की वंदना' पढ़ी थी। उसकी कुछ पंक्तियों का भाव उनकी विशाल भावना के उदाहरण के रूप में यहां दिया जाता है—

हिंदू—"माता, हमारी अर्चना के पुष्प तेरे सिर के किरीट बनेंगे।"

पारसी—"माता, हमारी आशा की ज्योति तेरा आवरण बनेगी।"

मुसलमान—"हमारी प्रेमरूपी तलवारें तेरी रक्षा करेंगी।"

ईसाई—"माता, हमारे धर्म का संगीत तेरी सेवा में रहेगा।"

सभी धर्मावलम्बी—"क्या हमारी उत्कट भक्ति द्वारा तेरा कल्याण न हो सकेगा? हे सम्राज्ञी, हे देवि, सुनो हम तुम्हारी वंदना करते हैं।"

यद्यपि सरोजिनी का जन्म उच्च कुल में हुआ, वे धन की गोदी में पलीं और सम्पन्न घर में विवाहित हुईं तथापि उनके

अंतःकरण में प्राणिमात्र के लिए सहानुभूति तथा संवेदना का भाव था और निम्न वर्ग की जनता के भावों को भली भांति अंकित कर सकती थीं।

सरोजिनी नायडू को भारत के भविष्य पर दृढ़ विश्वास था। अपने हृदय के अंतरतम में वे अनुभव करती थीं कि वर्त्तमान काल में भारत की जो भी अवनत दशा है, भविष्य में एक दिन यह देश गर्वोन्नत होकर संसार को अपना प्राचीन संदेश सुनाएगा, जिस संदेश के बिना अशांति और त्रास संसार से दूर न होंगे। अपनी 'भारत माता के प्रति' शीर्षक कविता में आप ने लिखा है—

"अंधकार से ग्रस्त, रुदन करती हुई जातियां तेरे नेतृत्व की प्रतीक्षा कर रही हैं......मां, हे मां, तू सो क्यों रही है...... तेरी प्रतिष्ठा करने के लिए तेरा भविष्य तेरा आह्वान कर रहा है।"

अंग्रेजी भाषा पर आप को जो अधिकार प्राप्त था उसके बारे में सर एडमंड गास ने लिखा है, "वास्तव में मैं यह विश्वास करने के लिए अप्रस्तुत नहीं हूँ कि आज तक जितने हिंदुस्तानियों ने अंग्रेजी में रचनाएं की हैं उनमें से सरोजिनी की रचनाएं सब से चमत्कारिक, सबसे मौलिक तथा सब से शुद्ध होती हैं।"

यहां उनकी कविता में से कुछ संदर्भों के अनुवाद देना अनुचित न होगा, परन्तु यह स्मरण रहे कि कविता के अनुवाद में और फिर गद्यानुवाद में वह मौलिक कविता का रस नहीं हो

सकता।

"हे मेरे जीवन के दीपक, काल के होठों ने तुझे अकस्मात् अपने श्वास से बुझा दिया है। कुछ भी हो, अब तेरी विगत ज्योति पुनरुज्जीवित नहीं हो सकती...हे प्रिय, क्या जीवित अंधकार ही सदा के लिए मेरा आवास होगा?

"हे मेरे जीवन-तरु, काल के निर्दयी पैरों ने तेरे मूल को रौंद डाला है। कोई भी वस्तु अब तुझे तेरा अतीत गौरव प्रदान नहीं कर सकती......वृक्ष के शुष्क हो जाने पर, उस के पल्लव कहीं जीवित रह सकते हैं?"

'सती' शीर्षक कविता से।

"हे यौवन, प्रिय संगी यौवन, क्या तू चला जाएगा? तू और मैं, दीर्घ काल तक एक ही साथ रहे हैं। एक ही साथ देश-देशान्तरों में उषा का पान किया और एक ही साथ आकाश के नीचे फल चुने हैं!

"हे चपल मित्र, कल तक तो मैं भविष्य के अविच्छिन्न तथा असीम आह्लाद का स्वप्न देखा करती थी......। तू जो चला जाएगा, तो आज से मैं क्या अतीत काल ही के भंगुर सुखों का स्वप्न देखूँगी?

"मैं तुझे तेरी अस्थिर तथा झूठी प्रतिज्ञा से मुक्त करती हूं। परन्तु हे मेरे साथी, विदा होने से पहले मेरे नेत्र-पुटों तथा

भौंहों को एक बार चुम्बन कर ले। मैं ने तेरी मूर्ति को अपने हृदय में स्थापित किया है।"

'यौवन के प्रति' शीर्षक कविता से।

"हे प्रार्थनामय नेत्रों वाले, अभय मुद्रा में स्थित पद्मासीन भगवान् बुद्ध यह कैसा अक्षुण्ण, अनंत तथा रहस्यमय परमानंद तुझे प्राप्त है! तुम्हारी कैसी परम शांति है, जिस का हमारी दृष्टि को आभास नहीं हो सकता, और जो मनुष्य-संसार के लिए दुर्लभ है!

"हमारे कौतूहल-पूर्ण जीवन-पथ में सदा परिवर्तन की वायु चलती रहती है। आने वाले दिवस की व्यथाएं बीते हुए दिवस के दुःखों का स्थान ले लेती हैं। एक स्वप्न के बाद दूसरा स्वप्न आता है; एक समस्या के अनन्तर दूसरी समस्या उपस्थित होती है; और अंत में काल जीवनरूपी जाल को विच्छिन्न कर देता है।

"हमारे लिए दुःख और यातनाएं हैं, अपने गर्व के खंडित रहस्य हैं, पराजय के कठिन पाठ हैं। हमारे लिए ऐसे पुष्प हैं जो दुष्प्राप्य हैं, ऐसे फल हैं जो वर्जित हैं। हमारे लिए वह परम शांति कहां, जिस पर, हे पद्मासीन बुद्ध, तुम ने अधिकार प्राप्त कर लिया है।

"हम अपनी कष्टसाध्य अभिलाषाओं की तृप्ति में असफल

रहते हैं; उस ऊँचे उच्च शिखर पर चढते हुए हमारे पैर थक जाते हैं और हमारे विश्वास शिथिल पड़ जाते हैं......"

"अंत स्थान दूर और अस्पष्ट है; परन्तु वह निरंतर हमें अपनी ओर बुला रहा है। हमारे संपूर्ण जीवन के दिवस अनंत के एक क्षण मात्र हैं। हे पद्मासीन, तुम्हारे निर्वाण पद को हम कैसे प्राप्त कर सकेंगे?"

'पद्मासीन बुद्ध' शीर्षक कविता से।

"हे मेरे हृदय, हमें शीघ्र ही उठना होगा, और संसार-युद्ध तथा जन-समूह के कोलाहल में सम्मिलित होना होगा.........हे मेरे हृदय, आ, हम उठें और अपने बचे हुए स्वप्नों को एकत्र करें। हम जीवन की वेदना पर संगीत की वेदना से विजय प्राप्त करेंगे।"

'वन में' शीर्षक कविता से।

यद्यपि उनकी कविताएं बहुत उच्च कोटि की हैं तथापि कवि को उससे पूरा संतोष नहीं है। सरोजिनी का कविता का आदर्श बहुत ऊंचा था। अपनी कविता के बारे में वे अपने एक पत्र में लिखती हैं—

"क्या यह सम्भव है कि मैं ने सौंदर्यपूर्ण पद्य लिखे हैं?......आप जानते हैं कि मेरा कला का आदर्श कितना ऊंचा

है और मेरी दृष्टि में मेरे तुच्छ और स्फुट पद्य मुझे पूर्णरूप से सुन्दर नहीं प्रतीत होते। मेरा तात्पर्य उस सनातन सौंदर्य से है जिस की मुझे महती अभिलाषा रहती है।"

अपनी साधना के फल से असंतुष्ट रह कर अन्यत्र लिखा है—

"वास्तव में मैं कवि नहीं हूँ। मुझ में कल्पना है; अभिलाषा है; परन्तु उद्गार नहीं हैं। यदि मैं एक भी ऐसी कविता लिख लूं, जो सौंदर्य तथा उच्च भावों से पूर्ण हो तो मैं सदा के लिए सुखपूर्वक मौन हो जाऊँ।"

इसी भाव को लेकर अन्यत्र लिखा है—

"जब तक जीवित हूँ, मेरी आत्मा की यह असीम अभिलाषा रहेगी कि मैं कविता करूं—एक ही पद्य, सनातन कविता की एक ही पंक्ति। कदाचित् मैं अपनी इस इच्छा की पूर्त्ति हुए बिना ही मर जाऊंगी।"

सार्वजनिक कार्यों में भाग लेते हुए भी उनका अंतिम ध्येय कविता ही था। अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा है—

"धर्माध्यक्ष और महात्मागण अपने २ धर्म में प्रसन्न रहें। नृपति अपनी सेनाओं सहित कीर्तिशाली कार्यों का सम्पादन करें। पराजितों को शांति प्राप्त हो; बलशालियों को आशा प्रदान हो।...परन्तु हे मेरे स्वामिन्, मुझे संगीत का आनंद प्राप्त हो।"

सरोजिनी नायडू की कविता उन के जीवन की प्रथम तथा सर्वसुन्दर झांकी है। उनके समाज-सुधार सम्बन्धी विचारों तथा राजनीतिक कार्य का अपना महोच्च स्थान है परन्तु समय बीतने

पर और देश तथा समाज की समस्याओं के सुलझ जाने पर उनके सार्वजनिक कार्य के महत्व को विस्मृत कर देना सम्भव है परंतु उनकी कविताएं उनका स्थायी स्मारक हैं। जब तक मानव हृदय में स्पंदन है, कविता का रस फीका नहीं पड़ सकता। हां, यह देश का दुर्भाग्य है कि परिस्थितियों ने सरोजिनी को अंग्रेजी भाषा में कविता करने की प्रेरणा की। उस समय अंग्रेजी ही का प्रभुत्व था और भारतीय भाषाओं के प्रति सुशिक्षित वर्ग की अरुचि थी। लगभग एक ही समय में सरोजिनी नायडू अंग्रेजी में और रवींद्रनाथ टैगोर बंगला में साहित्य-रचना कर रहे थे। बंगाली प्रतिभा दो भिन्न माध्यमों द्वारा प्रकट हो रही थी; एक स्वदेशी था और दूसरा विदेशी। क्या ही अच्छा होता कि सरोजिनी भी किसी भारतीय भाषा को माध्यम के रूप में अपना सकी होतीं और देश का साहित्य-भांडार उनकी मौलिक रचनाओं से वैसे ही भरपूर होता जैसे रवींद्रनाथ टैगोर की रचनाओं से हुआ।

समाज-सुधार सम्बन्धी विचार

श्रीमती सरोजिनी नायडू का समाज-सुधार सम्बन्धी कार्य जीवन के प्रातःकाल ही में आरम्भ हो गया था। वे केवल समाज-सुधार पर भाषण देना ही नहीं जानती थीं प्रत्युत विचारों को जीवन में कार्यान्वित करके उदाहरण भी प्रस्तुत कर सकती थीं। उनका अपना विवाह ही एक पर्याप्त उदाहरण है। समाज में प्रचलित जन्म की जातपात और ऊंच-नीच को वे देश के लिए हानिकारक समझती थीं। अस्पृश्य जातियों की दुर्दशा

देखकर उनका हृदय रोता था। स्त्री जाति की अज्ञानता तथा विद्या-विहीनता उन्हें समाज के लिए घातक जान पड़ती थी। स्त्री जाति की शिक्षा के लिए तो उन्होंने १९०६ ई० ही से कार्य करना आरम्भ कर दिया था। हिंदू-मुस्लिम एकता उन का एक प्रिय विषय था। नवयुवक तथा नवयुवतियों को मिलकर और उन्हें कर्तव्य-पथ पर प्रेरित करके उन्हें विशेष प्रसन्नता होती थी।

अपने सार्वजनिक जीवन में आपको सारे भारतवर्ष तथा संसार के दूसरे देशों में भी बहुत भ्रमण करने का अवसर मिला। जहां भी आप गईं आपने समाज-सुधार सम्बन्धी अपने विचारों को अपनी मधुर तथा कलापूर्ण भाषा में प्रस्तुत करने का अवसर नहीं खोया। आप की वाणी में ओज था, आकर्षण था और प्रेरणा-शक्ति थी। परमात्मा ने आप को वाणी की जो प्रभावोत्पादक और उत्तेजक शक्ति प्रदान की थी, आप ने उसका पूरा उपयोग किया और सदुपयोग किया।

गांधी जी के सार्वजनिक क्षेत्र में आने पर देश के समाज-सुधार सम्बन्धी कार्य में एक नई स्फूर्ति उत्पन्न हो गई और गांधी जी के सम्पर्क में आकर श्रीमती सरोजिनी नायडू की समाज-सुधार-भावना को बहुत उत्तेजना मिली। गांधी जी ने राष्ट्रीय निर्माण का जो सर्वतोमुखी कार्यक्रम देश के सामने रखा उसे दूसरे कई उच्च कोटि के नेताओं के समान सरोजिनी नायडू ने भी शिरोधार्य किया।

अब हम यहां श्रीमती जी के स्थान २ पर दिये गए अनेक

भाषणों में से कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं जिन से आप के समाज-सुधार सम्बन्धी विचारों का परिचय प्राप्त होता है।

१६२३ ई० में बम्बई में सवर्णों तथा हरिजनों के सहभोज पर आपने एक बड़ी उत्साहपूर्ण वक्तृता दी थी। आप ने कहा था—

"यह बड़े सौभाग्य की बात है कि भिन्न २ राजनीतिक दलों के नेता इस महान् कार्य में सम्मिलित हैं। यह कार्य दल-विशेष का नहीं, सम्पूर्ण समाज का है। भारत के लिए यह बड़ी लांछना की बात है कि उसकी सन्तानों का एक बड़ा भाग पतित अथवा अस्पृश्य समझा जाए। बिना उन्हें साथ लिए हम अपने राजनीतिक मंतव्यों में कदापि सफल नहीं हो सकते।"

वैसे तो हरिजनों की अवस्था सारे भारत में शोचनीय है परंतु दक्षिण भारत में यह रोग बहुत भयावह सीमा तक पहुँचा हुआ है। १६२३ ई० में दक्षिण भारत के भ्रमण में एक सम्मेलन की सभानेत्री के पद से भाषण देते हुए उन्होंने सवर्णों को सम्बोधित करके कहा था—

"मित्रो, कितने सहज कपट से हम अस्पृश्यता को दूर करने के प्रश्न पर अपनी अनुमति दे देते हैं। पर जब व्यवहार का समय आता है, तब अपने घरों में ऐसे सैकड़ों बचाव करने लग जाते हैं, ताकि हम अपनी जाति से निकाल न दिये जाएं। मैंने इस विषय पर बड़े २ सुधारकों को कहते सुना है कि अछूत जातियां अपने लिए अवश्य अलग कुएँ बना लें। यदि वे लोग

अपने लिए अलग मन्दिर बनाते हैं, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु, मैं कहती हूँ मित्रो, क्या वे तुम्हारी ही भांति मनुष्य नहीं हैं? वे उसी मिट्टी के बने नहीं हैं, उसी सुख-दुख के चक्र में नहीं पड़े हैं? क्या तुम्हारी तरह उनके हृदय में भाव नहीं हैं, तुम्हारी ही तरह वे भोजन नहीं करना जानते, तुम्हारी ही तरह वे सांस नहीं लेते? तुम्हारी तरह वे भी गुलाम हैं, और तुम्हारे ही कारण वे और भी अधिक गुलाम बने हुए हैं। आज २०वीं शताब्दी में तुम उन स्वतंत्र जातियों के अधिकार की बराबरी का दावा करते हो, जिन्होंने भेद और अत्याचार को दूर कर दिया है। यह क्या तुम्हारे लिए धृष्टता की बात नहीं है? छूताछात का भाव दूर करना हमारे लिए क्या अपनी ही बेड़ियों का काटना नहीं है? क्या यह हमारा धर्म नहीं है कि अपनी जन्मभूमि के मस्तक से इस कलंक को दूर करें, क्योंकि हमीं इस कलंक के कारण हैं?"

१९२२ ई० में मद्रास में एक सार्वजनिक व्याख्यान में उन्होंने ब्राह्मणों को सम्बोधन करके कहा था—

"जब तक तुम अछूतों की समस्या को हल नहीं कर लेते तब तक स्वतंत्रता की बात करने के भी अधिकारी नहीं हो। आखिर स्वतंत्रता है क्या वस्तु? क्या तुम्हीं दिल्ली और शिमले की व्यवस्थापक सभाओं में जाओगे, जिनको प्रतिनिधि रूप में बोलने का कुछ अधिकार नहीं? तुम व्यवस्थापक सभाओं में जाकर करोगे क्या? किनके प्रतिनिधि कहलाओगे? सचाई के साथ क्या तुम कह सकते हो कि तुम्हारे हृदयों में

भाषणों में से कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं जिन से आप के समाज-सुधार सम्बन्धी विचारों का परिचय प्राप्त होता है।

१६२३ ई० में बम्बई में सवर्णों तथा हरिजनों के सहभोज पर आपने एक बड़ी उत्साहपूर्ण वक्तृता दी थी। आप ने कहा था—

"यह बड़े सौभाग्य की बात है कि भिन्न २ राजनीतिक दलों के नेता इस महान् कार्य में सम्मिलित हैं। यह कार्य दल-विशेष का नहीं, सम्पूर्ण समाज का है। भारत के लिए यह बड़ी लांछना की बात है कि उसकी सन्तानों का एक बड़ा भाग पतित अथवा अस्पृश्य समझा जाए। बिना उन्हें साथ लिए हम अपने राजनीतिक मंतव्यों में कदापि सफल नहीं हो सकते।"

वैसे तो हरिजनों की अवस्था सारे भारत में शोचनीय है परंतु दक्षिण भारत में यह रोग बहुत भयावह सीमा तक पहुँचा हुआ है। १६२३ ई० में दक्षिण भारत के भ्रमण में एक सम्मेलन की सभानेत्री के पद से भाषण देते हुए उन्होंने सवर्णों को सम्बोधित करके कहा था—

"मित्रो, कितने सहज कपट से हम अस्पृश्यता को दूर करने के प्रश्न पर अपनी अनुमति दे देते हैं। पर जब व्यवहार का समय आता है, तब अपने घरों में ऐसे सैकड़ों बचाव करने लग जाते हैं, ताकि हम अपनी जाति से निकाल न दिये जाएं। मैंने इस विषय पर बड़े २ सुधारकों को कहते सुना है कि अछूत जातियां अपने लिए अवश्य अलग कुएँ बना लें। यदि वे लोग

अपने लिए अलग मन्दिर बनाते हैं, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु, मैं कहती हूँ मित्रो, क्या वे तुम्हारी ही भांति मनुष्य नहीं हैं ? वे उसी मिट्टी के बने नहीं हैं, उसी सुख-दुख के चक्र में नहीं पड़े हैं ? क्या तुम्हारी तरह उनके हृदय में भाव नहीं हैं. तुम्हारी ही तरह वे भोजन नहीं करना जानते, तुम्हारी ही तरह वे सांस नहीं लेते ? तुम्हारी तरह वे भी गुलाम हैं, और तुम्हारे ही कारण वे और भी अधिक गुलाम बने हुए हैं । आज २०वीं शताब्दी में तुम उन स्वतंत्र जातियों के अधिकार की बराबरी का दावा करते हो, जिन्होंने भेद और अत्याचार को दूर कर दिया है। यह क्या तुम्हारे लिए धृष्टता की बात नहीं है ? छूताछात का भाव दूर करना हमारे लिए क्या अपनी ही बेड़ियों का काटना नहीं है ? क्या यह हमारा धर्म नहीं है कि अपनी जन्मभूमि के मस्तक से इस कलंक को दूर करें, क्योंकि हमीं इस कलंक के कारण हैं ?"

१९२२ ई० में मद्रास में एक सार्वजनिक व्याख्यान में उन्होंने ब्राह्मणों को सम्बोधन करके कहा था—

"जब तक तुम अछूतों की समस्या को हल नहीं कर लेते तब तक स्वतंत्रता की बात करने के भी अधिकारी नहीं हो। आखिर स्वतंत्रता है क्या वस्तु ? क्या तुम्हीं दिल्ली और शिमले की व्यवस्थापक सभाओं में जाओगे, जिनको प्रतिनिधि रूप में बोलने का कुछ अधिकार नहीं ? तुम व्यवस्थापक सभाओं में जाकर करोगे क्या ? किनके प्रतिनिधि कहलाओगे ? सचाई के साथ क्या तुम कह सकते हो कि तुम्हारे हृदयों में

देश की भलाई का भाव है ? तुम ऐसा कदापि नहीं कह सकते। गलियों के पत्थर तुम्हारे विरुद्ध साक्षी देंगे। जंगलों के वृक्ष तुम्हें धिक्कारेंगे। पहाड़ियां और जंगल उन लोगों के संतप्त अश्रुओं को जानते हैं, जिनके सामने आने ही में तुम अपने को अपवित्र समझने लगते हो।"

ये शब्द कड़े हैं परंतु दक्षिण भारत में अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों की जो दुर्दशा है, उसके अनुरूप ही हैं।

सरोजिनी नायडू का समाज-सुधार-सेवा-भाव से प्रेरित था, किसी पर परोपकार जताने के लिए नहीं। अपने इस आदर्श को उन्होंने एक व्याख्यान में ऐसे वर्णन किया था—

"दानशीलता के भाव से प्रेरित होकर ग़रीबों की सहायता करना उनका अपमान करना है और जो उनके लिए मृत्यु से भी बुरा है। कारण, धनियों को धन का अभिमान है और रूपवानों को अपने सौन्दर्य का। कवियों के पास उनकी प्रतिभा है; परन्तु ग़रीबों के पास केवल एक मान है। यदि समाज-सेवा करना चाहते हो तो विनय भाव से करो। इसी से तुम्हारी सेवा को दीन, दुखी और मरते हुए लोग स्वीकार करेंगे। इसी के कारण ग़रीब तुम्हारे हाथों से वह जल ग्रहण करेंगे, जिससे उनके प्राणों की रक्षा की संभावना है।"

भारत की स्त्री जाति के जागरण तथा उत्थान-कार्य में सरोजिनी नायडू का विशेष हाथ था। स्वयं स्त्री होने के कारण वे स्त्रियों के कष्टों और समस्याओं को बहुत अच्छी तरह

समझती थीं। देश के सभी भागों में भ्रमण करने के कारण उन्हें सभी प्रांतों की स्त्रियों के सम्पर्क में आने के अवसर मिलते थे। और जहां उनका सम्पर्क होता था वहीं जागृति का उद्भव हो जाता था। परदा-प्रथा के बारे में उन्होंने कहा था—

"इस पुरानी सामाजिक प्रथा की बुराई-भलाई का विवेचन किये बिना ही मैं विश्वास-पूर्वक कह सकती हूं कि परदे की प्रथा अन्य पुरानी प्रथाओं की भांति उठ रही है। हमारी जातीय जागृति की आवश्यकताओं के सम्मुख यह अधिक काल तक अक्षुण्ण नहीं रह सकती।"

सरोजिनी का स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी प्रयास बहुत स्तुत्य है। उनकी सर्वप्रथम सार्वजनिक वक्तृता, जो १६०६ ई० में हैदराबाद में हुई, इसी विषय पर थी। दिसम्बर १६०६ ई० में उन्होंने कलकत्ते में भारतीय-जातीय-सामाजिक-सम्मेलन में स्त्री-शिक्षा पर एक ओजस्विनी वक्तृता देते हुए कहा था—

"यह मुझे एक विचित्र बात मालूम होती है और इस विचित्रता में कौतूहल और दुख दोनों सम्मिलित हैं—कि आज बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में, भारतवर्ष में, हम सभी जगह अपनी सार्वजनिक सभाओं में स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्ताव उपस्थित कर रहे हैं। यह वही भारतवर्ष है जो पहली शताब्दी के आरम्भ में भी पूर्ण सभ्य था और संसार को उन उज्ज्वल स्त्री-रत्नों को आदर्श स्वरूप अर्पण कर चुका था, जो बुद्धि और विद्या दोनों ही के ऊंचे शिखर पर पहुंची हुई थीं। परन्तु, काल

की कुटिल गति के कारण इस वैचित्र्य का सामना करना पड़ता है। अब समय आ गया है कि हम इस बात पर विचार करें कि वह आपत्ति हम लोगों के ऊपर से कैसे दूर हो सकती है, और किस प्रकार हम ऐसा उद्योग कर सकते हैं जिससे हमारी सफलता स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में व्यर्थ प्रस्तावों के पास करने तक ही न रह जाए। इस महत्वपूर्ण काल में जब कि सभी ओर कठिनाइयां हैं और सभी ओर लोग उद्योग कर रहे हैं तथा भारत की सभी जातियां एक सर्वोच्च राष्ट्रीय आदर्श की एकता के लिए प्रयत्न कर रही हैं, यह विचारना चाहिए कि सभी प्रवाहों की सफलता उस प्रश्न पर निर्भर है, जिसे लोग स्त्रियों का प्रश्न कहते हैं। राष्ट्रीयता का निर्माण आप लोगों के हाथों में नहीं, हम लोगों के हाथों में है।"

अपनी उसी वक्तृता में आगे चल कर कहा था—

"यह ईश्वर का दिया हुआ अधिकार है कि प्रत्येक मनुष्य स्वच्छ वायु का सेवन करे। क्या एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को इस अधिकार से वंचित कर सकता है? यदि नहीं, तो किसी मनुष्य को क्या अधिकार है कि एक दूसरे की आत्मा को अपने जीवन और अपनी स्वतंत्रता के अधिकार से रोके? दुख है कि वास्तव में भारतवर्ष का यही हाल है। भारतीय स्त्रियों के विषय में भारतीय मर्दों ने यही किया है। यही कारण है, भारत के पुरुषो, जो तुम्हारी आज यह दशा है। तुम्हारे पिताओं ने तुम्हारी माताओं को उनके परंपरागत अधिकार नहीं दिये, और इसी से तुम्हें भी अपने अधिकार नहीं मिले। अतएव मेरी प्रार्थना

है कि अपनी स्त्रियों को उनके प्राचीन अधिकार दो। क्योंकि जैसा कि मैं कह चुकी हूं—राष्ट्र के सच्चे निर्माता पुरुष ही नहीं हैं स्त्रियां भी हैं और उन्नति करने में हम लोगों की सहायता पाये बिना तुम्हारी सभाएँ और अधिवेशन व्यर्थ हैं। अपनी स्त्रियों को शिक्षा दो तभी राष्ट्र का भला होगा। यह बात आज भी सत्य है, सदा सत्य रही है और सदा सत्य रहेगी कि वे ही हाथ जो पालनों को झुलाते हैं संसार पर आधिपत्य करते हैं।"

१९१५ ई० में बम्बई में दी गई अपनी वक्तृता में उन्होंने कहा था—

"हम कोई ऐसी बात नहीं मांग रही हैं जो हमारे आदर्शों के विपरीत हो। हम अपने पुराने अधिकारों को चाहती हैं, जो हमारी अजर-अमर संपत्ति हैं। हम केवल यही चाहती हैं कि हमें इस बात का अवसर दिया जाय कि हम अपने शरीर मस्तिष्क तथा आत्मा को उन्नत कर सकें। उनका ऐसा विकास कर सकें कि हम तुम्हारे आगे एक आदर्श उपस्थित कर सकें। हमारा तात्पर्य कवि की कल्पना के असंभव स्त्रीत्व से नहीं प्रत्युत उस स्त्रीत्व से है जिसके द्वारा हम सफल गृहिणी और पुष्ट माताएं बन सकती हैं, जिसके द्वारा वीर माताएँ बन कर अपने पुत्रों को जातीय सेवा का आवश्यक पहला पाठ पढ़ा सकती हैं' 'स्त्री ही जातीयता की मुख्य कसौटी है। जब स्त्री समाज में अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण कर लेगी, तभी प्रधान समस्या हल हो सकती है। समाज का आदर्श स्त्रियों पर निर्भर है। भारत में यदि स्त्रियों में यह भाव जागृत कर दिया जाय कि

उन पर मातृत्व का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है, तो समस्या सहज में हल हो जाए। राष्ट्र-निर्माण का कार्य स्त्रियों से आरम्भ होना चाहिए। भारतीय स्त्रियों को यह भली प्रकार समझा देना चाहिए कि वे खिलौना नहीं हैं, दासी नहीं हैं, केवल पुरुषों के आमोद-प्रमोद की सामग्री नहीं हैं। उनका वास्तविक कार्य है—आत्मा के लिए उच्चतम प्रेरणा उपस्थित करना।"

सरोजिनी भली प्रकार समझती थीं कि हमारे देश का पुनरुत्थान देश के युवक युवतियों पर निर्भर है। विद्यार्थियों से मिलकर उन्हें विशेष प्रसन्नता होती थी। विद्यार्थियों की एक सभा में उन्होंने कहा था—

"यदि मुझ से कहा जाय कि भाषा के संपूर्ण भांडार में से तुम एक ऐसा वाक्य चुन कर कहो, जो तुम्हारे अंतरतम हृदय में भविष्याशा रूप निगूढ़ हो, और उसके बाद चुप हो जाओ, तो मैं वह वाक्य यही कहूँगी—

"तुम्हीं भविष्य की आशा हो।"

ऐसे ही अहमदाबाद में एक छात्र-सम्मेलन में सभानेत्री के पद से आपने कहा था—

"मैं अपने जीवन में सर्वोच्च महिमा तथा सिद्धि इसी में समझूंगी कि मेरी समाधि के शिलालेख पर ये शब्द अंकित किए जाएँ—भारत की नई पीढ़ी से इसे प्रेम था, उसी पर इसको विश्वास था, उसी के साथ इसने काम किया, और उसी के सहयोग से इसने भारत की स्वतंत्रता प्राप्त की।"

मद्रास में दिये गए एक भाषण में आपने छात्रों को देश की यशोवृद्धि के लिए अपने कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहने को ये शब्द कहे थे—

"तुमने महान् आदर्शों को पूर्वजों से थाती में पाया है। तुम पर बड़े २ कर्त्तव्यों का भार है। तुम्हारा बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। इससे प्रयोजन नहीं कि तुम कहां हो, कौन हो और क्या काम करते हो। गली में झाड़ू देने वाला भी देशभक्त हो सकता है। उसमें भी तुम एक ऐसा उत्तेजक भाव पा सकते हो, जिससे तुम्हारे मन को उच्च प्रेरणा प्राप्त हो सके। तुम चाहे जैसे दीन और अकिंचन हो, जो भार तुम्हारे ऊपर है, उसे टाल नहीं सकते। यह भार तुम्हारे ही वहन करने का है। अतएव तुम में से हर एक इसके लिए बाध्य है कि वह अपना जीवन देश-सेवा में लगाए।"

राजनीति के क्षेत्र में

सरोजिनी नायडू ने १६१५ ई० से राजनीति में भाग लेना आरम्भ किया। उस बरस की बम्बई कांग्रेस में उन्होंने स्वराज्य के प्रस्ताव का समर्थन किया। अगले कई बरसों के कांग्रेस-अधिवेशनों पर भी वे इस तथा दूसरे विषयों पर बोलती रहीं। शनैः२ उनका राजनीतिक कार्य बढ़ता गया। साहित्य के क्षेत्र को छोड़कर राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करने के सम्बन्ध में उन्होंने एक बार मद्रास में व्याख्यान देते हुए कहा था—

"मुझ से लोग बार २ पूछते हैं कि तुम कल्पना के हाथी-

दांत के गुंबद से उतर कर बाजार में क्यों आ गई हो ? तुमने कवि की वीणा और वंशी का परित्याग करके देश को स्वातंत्र्य-युद्ध के लिए उत्तेजित करने वाला बिगुल क्यों धारण कर लिया है ?' इसीलिए कि कवि का कर्त्तव्य उद्यान में, स्वप्न के मंदिर में एकांत निवास करना नहीं है; उसे जनता के साथ रहना चाहिए, युद्ध की कठिनाइयों के बीच में रहना चाहिए।"

राजनीतिक कार्य की अपनी धारणा के सम्बन्ध में वे कहती हैं :—

"मैं इस बात को बार २ दुहराती हूँ कि मेरी—स्त्री की बुद्धि—राजनीति की गहन सूक्ष्मताओं को अवगत नहीं कर सकती। मैं तो केवल उन महान् और सनातन प्रदेश-प्रेम के सिद्धांतों को समझती हूँ, जिनसे प्रेरित होकर प्रत्येक पीढ़ी अपनी सेवा भारत-माता के चरणों में अर्पित करती है तथा उसके मान को स्थायी रखने और उसके सम्मान की वृद्धि करने के लिए यत्नशील रहती है।"

यद्यपि सरोजिनी नायडू ने हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए बहुत प्रयत्न किया तथापि उन्होंने कभी मुसलमानों की अनुचित मांगों का समर्थन नहीं किया। मुसलमानों की इस मांग के सम्बन्ध में कि उन्हें सार्वजनिक निर्वाचनों में अपने पृथक् प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो, सरोजिनी नायडू ने पंजाब-प्रांतीय-सम्मेलन में व्याख्यान देते हुए कहा था—

"पृथक्-जातीय-प्रतिनिधित्व का सिद्धांत बहुत दोषपूर्ण

है; यह एक-जातीयता के भाव ही का घातक है । जब तक आपस में एक दूसरे पर विश्वास न होगा, तब तक हम स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकते । क्या हम ऐसी नींव पर स्वराज्य खड़ा करना चाहते हैं, जिसमें दरारें हों ? जो स्वराज्य एकता की दृढ़ चट्टान पर आश्रित न रहे, प्रत्युत पृथक्-जातीय विचारों पर स्थित हो, वह स्वराज्य बालू की नींव पर आश्रित समझना चाहिए । जो जातियां पृथक्-प्रतिनिधित्व चाहती हैं, उनका यह कहना कि वे अपनी राजनीतिक स्थिति बनाए रखने के लिए ऐसा चाहती हैं, एक बड़े कलंक की बात है । किसी जाति का बल उसकी जन-संख्या पर आश्रित नहीं है प्रत्युत उस जाति के नैतिक बल पर आश्रित है । महात्मा गांधी के शरीर में एक बच्चे का भी बल न होगा, परन्तु उसने एक महान् शासन की जड़ हिला दी है······हमें जन-संख्या का ध्यान छोड़ देना चाहिए । श्री कृष्ण, ईसा, मुहम्मद इन सभी धर्माचार्यों की यही शिक्षा है कि धर्म-पथ पर दृढ़ रहते हुए अपने साथियों की संख्या की परवाह न करें ।"

सरोजिनी नायडू का हृदय प्रवासी भारतीयों के दुःखों से बहुत दुखी होता था । अंग्रेजी राज्य में भारत से लाखों लोग मजदूरी आदि के लिए अफ्रीका, फिजी, मारिशस, ट्रिनिडाड आदि विदेशों को ले जाये गए थे । उनमें से बहुत से तो प्रतिज्ञा-बद्ध कुली-प्रथा के अधीन गए थे । उन लोगों की उन देशों में बहुत बुरी अवस्था थी । वहां की सरकार उनके प्रति उदासीन थी और वहां की शासक जाति का उनके प्रति व्यवहार अच्छा

न था। पराधीन होने के कारण भारत अपनी उस दूरस्थ संतान के कष्ट-निवारण करने में यद्यपि असमर्थ था तथापि अपने रक्त-मांस से बने अपने उन भारतीय बंधुओं के लिए भारत की जनता में सहानुभूति का भाव अवश्य था। कांग्रेस ने प्रवासी भारतीयों की समस्या को अपना लिया था। इस आंदोलन में सरोजिनी नायडू का विशेष भाग था। प्रयाग में अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था—

"तुम लोग जो स्वराज्य के लिए आंदोलन कर रहे हो, तुम लोग जो देशभक्ति के स्वप्न देख रहे हो, यदि तुम समुद्र पार से रात्रि-दिवस सुनाई देने वाले वेदना-क्रंदन का प्रतिकार नहीं कर सकते, तो क्या तुम देशभक्त कहलाने के योग्य हो? यह वेदना उन देश-भाइयों की है जिनकी दशा कुत्ते की दशा से अच्छी नहीं, उन बहिनों की है जिनके प्रति पशुतुल्य आचरण होता है।......आज मैं अपने अंदर उस यातना का अनुभव कर रही हूँ, जो वर्षों से वे बहिनें सहन कर रही हैं, जिनको अब मृत्यु ही में शांति मिल सकती है। मैं उस अकथनीय लज्जा और ग्लानि का अनुभव कर रही हूँ जो कुली-प्रथा से अभिन्न है।"

१९१९ ई० में सरोजिनी नायडू इंडियन-होमरूल-लीग की ओर से डेप्यूटेशन के साथ इंग्लैंड गईं। प्रथम योरुपीय महायुद्ध के समय अंग्रेजी सरकार हिंदुस्तान को आश्वासन देती रही थी कि युद्ध के समाप्त होने पर इस देश की राजनीतिक आकांक्षाओं को पूर्ण किया जाएगा परंतु युद्ध के समाप्त होते ही सरकार की

आंखें बदल गईं। महात्मा गांधी तक युद्ध में सरकार की सहायता के लिए कार्य करते रहे परंतु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् देश के सम्मुख निराशा ही निराशा दिखाई दी। देश की आवाज़ को निरुद्ध करने के लिए सरकार ने दमनचक्र प्रवर्तित कर दिया था। युद्ध-समय की राज-भक्ति का पुरस्कार राजनीतिक सुधारों के स्थान पर 'रौलट एक्ट' मिला था। जब जलियांवाला बाग़ का हत्याकांड हुआ तो सरोजिनी नायडू विलायत ही में थीं। इस आघात से प्रभावित होकर और इंग्लैंड के सरकारी अधिकारियों की भारत के प्रति उदासीनता देखकर, उन्होंने भविष्य में अपना सारा समय राजनीतिक कार्य ही के लिए देने का निश्चय किया। उन्होंने इंग्लैंड में पंजाब के हत्याकांड के सम्बन्ध में जो व्याख्यान दिए उनसे अंग्रेज़ी राजनीतिक दलों में सनसनी फैल गई। पार्लिमैंट में प्रश्न पूछे गए और स्वयं भारत-सचिव मिस्टर मांटेगू से सरोजिनी नायडू की लिखा-पढ़ी होती रही। अंग्रेज़ी सरकार तथा पार्लिमैंट ने पंजाब के अत्याचारों के प्रति उदासीनता दिखाई। उसे देखकर सरोजिनी नायडू को बहुत खेद हुआ और उन्होंने १९२० ई० में गांधी जी को लिखा—

"मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। परंतु पंजाब और खिलाफ़त के युगल प्रश्नों पर मैं संपूर्ण ध्यान दे रही हूँ और उन्हीं के लिए कार्य कर रही हूँ। किंतु ऐसी जाति से जो बल के मद में चूर और अंधी हो रही है, जिसमें जाति, धर्म, वर्ण सम्बन्धी तीव्रतर पक्षपात भरा है, जो भारतीय दशा, विचार और

आकांक्षाओं का कुछ ध्यान नहीं रखती है, किसी प्रकार की आशा रखना व्यर्थ है। अंग्रेजी न्याय तथा सहानुभूति में मुझे जो विश्वास शेष था, उसे पार्लिमेंट में होने वाले पंजाब सम्बन्धी वाद-विवाद ने पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। इस विवाद में हमारे मित्रों ने अज्ञान प्रदर्शित किया, हमारे शत्रुओं ने धृष्टता—दोनों का सम्मिलन हृदय को विदीर्ण करने वाली अवस्था उपस्थित करता है। मिस्टर मांटेगू फटी हुई दफली सिद्ध हुए।"

प्रायः उसी समय आप जिनेवा में होने वाले अंतर्राष्ट्रीय महिला-सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने के लिए गईं। आपके इस सम्मेलन में भाग लेने से अंतर्जातीय महिलाओं की दृष्टि में भारतीय महिलाओं का गौरव बढ़ा।

जिन दिनों वे विलायत से भारत लौटीं उन दिनों भारत में सब ओर गांधी जी के असहयोग का धूम थी। उन्होंने आते ही घोषित किया कि उनका कार्य गांधी जी के संदेश को देश में प्रचारित करना है और यही काम वे करती भी रहीं। असहयोग के कार्यक्रम के अनुसार उन्होंने अपना कैसरे-हिन्द पदक जो सरकार की ओर से उन्हें मिला हुआ था, सरकार को लौटाते हुए, साथ यह पत्र लिखा—

"कई वर्षों से एक असहाय जाति अनेकों प्रकार से अपमानित हो रही है, उसका घोर दमन हो रहा है, उसके प्रति जो प्रतिज्ञाएँ की गई थीं, वे भंग की जा रही हैं। इन बातों के अतिरिक्त दो बड़े पाप हुए हैं—एक तो मुसलमानों को दी हुई

प्रतिज्ञा का अनादर और दूसरे पंजाब का हत्याकांड। यह मेरे सम्मान और मानुषिक विचारों के प्रतिकूल है कि मैं इन अत्याचारों को देखकर भी चुप रह सकूं और उस सरकार से जिसने कि न्याय का तिरस्कार किया है, सहमत हो सकूं।"

मार्च १९२२ ई० में जब गांधी जी पर विद्रोह का अभियोग चला और उन्हें कारावास का दंड मिला तब सरोजिनी नायडू उपस्थित वहीं थीं। उन्होंने सारी कार्यवाही का बड़ा मर्म-स्पर्शी वर्णन किया है। गांधी जी के बंदी हो जाने पर उन्होंने आन्दोलन को जारी रखने का प्रण किया। तत्पश्चात् जब कांग्रेस में कौंसिल-प्रवेश के सम्बन्ध में मतभेद हुआ तो सरोजिनी नायडू कौंसिल-बहिष्कार पर से प्रतिबंध उठाने के विरुद्ध थीं।

१९२४ ई० में वे पूर्वीय अफ्रीका की होने वाली भारतीय कांग्रेस की सभानेत्री चुनी गईं। मुम्बासा में उन्होंने कांग्रेस-अधिवेशन में प्रभावशाली व्याख्यान दिया। पूर्वीय अफ्रीका के हिंदुस्तानियों को उत्साह दिलाते हुए उन्होंने कहा—

"आप लोग एक स्वर से सरकार से कह दें कि यद्यपि प्राकृतिक नियम से नदियां उलटी नहीं बहा करतीं तथापि हम लोग आपके निर्णयों की धारा को उलटा बहा देंगे। यद्यपि हम लोग दीन और दरिद्र हैं तथापि आप यह न समझें कि आप हमारे अधिकारों को छीनने के उद्देश्य में सफल हो सकेंगे।"

प्रिटोरिया, डरबन, जोहांसबर्ग, जहां २ श्रीमती जी पधारीं उनका बड़े समारोह से सार्वजनिक स्वागत किया गया। उन्होंने

वहां के भारतवासियों से अनुरोध किया कि वे सदा अपने अधिकारों की रक्षा के लिए तत्पर रहें। जोहांसबर्ग के अपने व्याख्यान में आपने कहा—"मैं आप लोगों के सामने भारतीय राष्ट्र का संदेश लेकर आई हूँ। एक ऐसे राष्ट्र का संदेश लेकर आई हूं जो अब निद्रा को त्याग चुका है, जिसने फूट का त्याग कर दिया है और जो अब किंकर्तव्य-विमूढ़ नहीं है। मैं अपने राष्ट्र की ओर से आपको विश्वास दिलाती हूं कि कोई दूसरा राष्ट्र, चाहे वह कितना प्रबल हो, निर्भयता के साथ आपके अधिकारों का दमन नहीं कर सकता।"

प्रिटोरिया में आपनें भारत के संदेश को इस प्रकार सूत्र-रूप में कहा—

"जहां तक सम्भव होगा, हम साम्राज्य के अंदर रहेंगे। यदि आवश्यक हुआ तो साम्राज्य के बाहिर रह कर अपने अधिकारों की रक्षा करेंगे। दक्षिण अफ्रीका का प्रश्न ही इस समस्या का निर्णय कर देगा।"

पूर्वीय तथा दक्षिण अफ्रीका के भ्रमण में श्रीमती जी वहां बड़े २ पदाधिकारी से मिलीं और आपने तद्देशस्थ भारतीयों की समस्याओं को सुलझाने के सम्बन्ध में बातचीत की। आपके व्याख्यानों में सदा बड़े २ गण्यमान्य व्यक्ति सभापति होना अपना गौरव समझते थे। आपके उस भ्रमण से उस देश के भारतीयों के उत्साह बढ़ गए। और उस देश के उच्च पदाधिकारियों के हृदयों में कुछ परिवर्तन हुआ। जुलाई १९२४ ई० में आप उस देश से भारत लौट आईं।

१६२४ ई० की बेलगांव-कांग्रेस में प्रवासी भारतीयों के सम्बन्ध का प्रस्ताव आपही ने प्रस्तुत किया। १६२५ ई० के कांग्रेस के कानपुर-अधिवेशन की सभानेत्री आप ही निर्वाचित हुईं और आपने बड़े सुचारुरूप से अधिवेशन के कार्य का संचालन किया। अपने इस काल में आपने देश में परिभ्रमण करके जनता में जागृति उत्पन्न कर दी।

गांधी जी के नमक-सत्याग्रह में आपने बढ़-चढ़ कर भाग लिया। गांधी जी के बंदी होने के पश्चात् आप सत्याग्रह-संग्राम की संचालिका नियुक्त हुईं। २३ मई, १६३० ई० को आपको बंदी किया गया परंतु २६ जनवरी, १६३१ ई० को गांधी-इर्विन समझौते के अनुसार आपको छोड़ दिया गया। १६३१ ई० में आप गोलमेज़-सम्मेलन पर विलायत गईं। १६३३ ई० में आपको सविनय-अवज्ञा-आंदोलन में भाग लेने पर बंदी कर लिया गया और एक वर्ष कारावास का दंड मिला। मुक्त होने पर आपको सरकार की ओर से दक्षिण अफ्रीका भेजे गए शिष्ट-मंडल की सदस्या बनाकर भेजा गया।

१६४० ई० में जब गांधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का आंदोलन आरम्भ किया तो श्रीमती जी को बंदी कर लिया गया। १६४२ ई० में 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के स्वीकृत किये जाने पर कांग्रेस के अन्य नेताओं के समान आपको भी बंदी कर लिया गया था और दीर्घ काल तक कारावास में रखा गया।

अगस्त १६४७ ई० में भारत के स्वतंत्र हो जाने पर आपको

संयुक्तप्रांत के गवर्नर पद पर नियुक्त किया गया उसी उच्च पद पर आरूढ़ रहते हुए १ मार्च, १९४९ ई० को प्रात.काल ३-३० बजे सहसा हृद्रोग से आपकी मृत्यु हो गई।

भारत-कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू की आकस्मिक मृत्यु का समाचार सारे भारत में आन की आन में फैल गया और सारा राष्ट्र शोक-सागर में निमग्न हो गया। ऐसी दिव्य विभूति के अलग हो जाने पर शोक तो स्वाभाविक था परंतु इतना संतोष था कि आपने अपने प्रिय भारत को स्वतंत्र देखकर प्राण छोड़े हैं और आपको भारतीय रमणी की आकांक्षित सोहाग की मृत्यु प्राप्त हुई है। आपका शरीर नहीं रहा परंतु आप अपने सेवा-कार्य और अपनी साहित्य-रचना के रूप में जीवित हैं और सदा जीवित रहेंगी।

स्वामी दयानंद

(ले० डा० सूर्यकान्त)

वेद कहता है—

"उद्यानं ते पुरुष नावयानम्"

अर्थात् ओ पुरुष ! तू ऊपर उठ, नीचे मत गिर।

वेदों के इस सिद्धांत की घर-घर में अलख जगाने वाले ऋषि दयानंद का जन्म संवत् १८८१ (सन् १८२४) में मोरवी राज्य के टंकारा नामक गांव में हुआ था। उनके पिता कर्षन जी उदीच्य ब्राह्मण थे और लेन-देन का काम करते थे। दयानंद उनके ज्येष्ठ पुत्र थे और इनका पहला नाम मूलजी था।

मूलजी पांच वर्ष के हुए और इन्हें देवनागरी पढ़ाई गई और बहुत से मंत्र तथा श्लोक कंठ कराए गए। आठ वर्ष की आयु में ब्राह्मण का यज्ञोपवीत हो गया।

कर्षन जी शैव थे और शिव की पूजा बड़े ठाठ से करते थे। वे व्रत भी रखा करते थे। मूलजी पिता की इन बातों में साथ रहते थे।

माघ वदि १४ सं० १८९४ को शिव-रात्रि का व्रत आया और बड़ी श्रद्धा के साथ पिता-पुत्र दोनों ने उपवास रखा। रात में मंदिर जा शिव जी की पूजा की गई; बड़े गाजे-बाजे के साथ; मूर्ति को शिवजी का असली रूप समझ कर। भोग लगाने के

बाद एक-एक करके सब सो गए; किंतु मूलजी को नींद कहां ? वे शिवजी की अनन्य पूजा में रत थे।

आधी रात हुई, और जब दुनिया सोई तब चूहे जागे और सीधा भोग खाने के लिए मूर्ति पर चढ़ बैठे। मूलजी अवाक् रह गया। त्रिलोकी का स्वामी चूहों से मार खा रहा है। क्या मेरा देवता इतना निर्बल और लज्जा-हीन है ? जिस व्यक्ति का, जिस जाति का देवता ऐसा हो वह स्वयं कैसी होगी ? मूलजी के मन में इन्हीं विचारों की उथल-पुथल मच गई। उसका मन मूर्ति-पूजा से उचट गया। अब मूलजी १४ वर्ष का था।

मूलजी की दो बहिनें और दो भाई और थे। एक दिन वे एक मित्र के यहां मंडली में बैठे थे कि समाचार मिला "तुम्हारी बहिन को हैजा है"। मूलजी भाग कर पहुंचे; वे खड़े थे, सब खड़े थे, उपचार चल रहा था, फिर भी बहिन चल बसी। "पिता जी ! बहिन कहां गई। वह किधर चली गई। वह चुप क्यों है ?" इन प्रश्नों ने मूलजी को आ घेरा। उत्तर मिला "तुम्हारी बहिन बीमार थी। बीमारी से मर गई। मरना सभी को है।" मूलजी का सोने का संसार मट्टी में बदल गया। "सभी को जाना है, मुझे भी जाना है; मैं इससे बचूंगा; मैं ऐसी दवा लाऊंगा, जो मुझे मरने से बचावे," इन्हीं विचारों में घुलता हुआ मूलजी १८ वर्ष का हो गया।

अगले वर्ष उसी व्याधि से उसके चचा चल बसे। मूलजी ने उन्हें भी जाते देखा। अब वे १६ वर्ष के थे। उन्होंने विलंब

करना पाप समझा और मौत से बचने की दवा ढूंढने के लिए घर छोड़ने की ठान ली।

इधर पिता ने विवाह के साज सज दिए। सुन्दर वधू ढूंढी गई। मित्रों ने मूलजी को बधाइयां दीं। नगर के नर-नारी मूलजी से दावतें मांगने लगे, किंतु मूलजी किसी और ही चिंता में घुल रहा था। वह विवाह के बंधन से बच कहीं दूर भाग जाना चाहता था।

संवत् १९०२ में २२ वर्ष के मूलजी घर छोड़ गए और विवाह की सारी तैयारियां धरी रह गईं। विवाह के उबटन की जगह अब उनके तन पर राखी थी; वधू के स्थान पर आज वे मृत्यु से बचाने वाले सच्चे योगी गुरु की खोज में थे।

इसी खोज में एक दिन उन्हें एक वैरागी मिल गया, जिसने उनके पिता को गुप्त पत्र भेजा उन्हें पकड़वा दिया। मूलजी दो दिन और दो रात सिपाहियों के पहरे में बंद रहे, किंतु उनकी इच्छा प्रबल थी और वे दूसरी बार फिर घर छोड़ गए और अहमदाबाद होते हुए बड़ोदा जा पहुँचे। वहां वे एक मठ में गए और जीव और ब्रह्म की एकता के हामी बन गए। इन दिनों इनका नाम शुद्धचैतन्य रखा गया।

अपनी यात्रा में शुद्धचैतन्य आगे बढ़े और किसी पहुँचे हुए गुरु की खोज में नर्मदा के तीर चाणोद-कर्णाली नामक स्थान पर जा पहुँचे, जहां पूर्णानंद सरस्वती ने इन्हें संन्यास की दीक्षा दी और इनका नाम 'दयानंद सरस्वती' रखा।

अब स्वामी दयानंद फिर लौटे और यहां के दुग्धेश्वर मंदिर में उन्होंने शिवानंद गिरि और ज्वालानंद पुरी नाम के योगियों से योग-विद्या सीखी और इस विषय में इन्हें अपना गुरु बनाया।

नर्मदा तट, आबू पर्वत और दूसरे स्थानों में घूमते-फिरते स्वामी दयानंद अपने लक्ष्य की खोज में संवत् १९११ में हरिद्वार आ पहुंचे; और वहां कुंभ का मेला देखा, चंडी के वन में तपस्या कर, हृषिकेश होते हुए बद्रीनारायण पहुँचे; किंतु उन्हें उस प्रदेश में किसी भी सच्चे गुरु का लाभ न हुआ और वे दारुण कष्ट झेलते हुए नीचे उतर घूमते-घामते मुरादाबाद आ पहुंचे। फिर उन्होंने तीन वर्ष तक जंगलों में, पहाड़ों में, मंदिरों में और मठों में किसी ऐसे गुरु की खोज की, जो उन्हें मुक्ति का मार्ग दिखाता, किंतु वे अपने लक्ष्य में विफल रहे और अंत में संवत् १९१७ में स्वामी विरजानंद जी की सेवा में मथुरा आ लगे।

स्वामी विरजानंद प्रज्ञा-चक्षु थे और उनके अगाध पांडित्य की चारों ओर धूम थी। दयानंद ने इन्हीं की शरण ली और इन्हीं से सब शास्त्र पढ़े। अब दयानंद की अवस्था ३५ वर्ष के लगभग थी।

पढ़ाई चलती रही और ढाई वर्ष के बाद पूरी हुई। दयानंद ने चलते समय गुरु से आशीर्वाद मांगा। दंडी ने कहा, 'जाओ पुत्र! तुम्हारी विद्या सफल होवे। तुम भारत का अंधकार दूर करने में सफल होओ।' आशीर्वाद के गुरु-भार को पीठ पर ले

दयानंद कल्याण-यात्रा पर चल दिये।

इस यात्रा में उन्होंने देश के नगर-नगरांतर देखे। पथ-भ्रष्टों को रास्ते पर लगाया; आर्त्तों का त्राण किया, वेदों का प्रवचन किया और गौओं के वध को बंद करवाने का प्रयत्न किया और इसी प्रकार सम्यक् कर्म करते-कराते वे फाल्गुन सुदि ७ संवत् १६२३ को हरिद्वार कुंभ के मेले पर पधारे और वहां के अमित जन-समुदाय के मध्य अपनी 'पाखंड-खंडनी' पताका गाड़ कर बैठ गए। यहां उन्होंने व्याख्यानों और शास्त्रार्थों की वह अटूट धारा बहाई, जिसने जाह्नवी के साथ मिल कर जनता के भ्रम-मल को धो डाला और उन्हें एक बार फिर वेदों का अमर संदेश दिया।

मेले के उपरांत कर्णवास, अनूपशहर, फ़र्रुखाबाद, कानपुर आदि नगर-नगरांतों में पर्यटन करते और वैदिक-धर्म की पताका फहराते संवत् १६२६ को स्वामी जी काशी आ पहुंचे; और वहां उन्होंने २८ ख्यात-नामा पंडितों से शास्त्रार्थ कर उन्हें परास्त किया और अठारह पुराण, मूर्ति-पूजा, शैव, शाक्त और रामानुज-संप्रदाय, तंत्र-ग्रंथ, मदिरा, व्यभिचार; चोरी और छल-कपट आदि की धज्जियां उड़ाते हुए अपने असली सुधारक रूप का जनता को आभास दिया।

काशी में वेदों का प्रवचन कर स्वामी जी फ़र्रुखाबाद, मिर्जापुर, प्रयाग, कलकत्ता आदि स्थानों में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करते-कराते मई सन् १८७४ में फिर काशी पधारे और वहीं आपने १२ जून सन् १८७४ में सत्यार्थ-प्रकाश की रचना आरंभ

की, जिसकी पहली प्रति सन् १८७५ में प्रकाशित हुई। वहां से वे प्रयाग, जबलपुर, नासिक, पंचवटी आदि होते हुए और सत्य-धर्म की प्रतिष्ठा और असत्य धर्म का निरास करते हुए २६ अक्तूबर सन् १८७४ में बंबई पहुँचे और आपने डा० भंडारकर आदि से विचार-विनियम कर वैदिक धर्म के सिद्धांतों का मार्मिक निरूपण और पुनरुत्थान किया।

इसके पश्चात् स्वामी जी सूरत आदि स्थानों में गुजरात, काठियावाड़-निवासियों के सन्मार्ग-दर्शनार्थ भ्रमण करते हुए अहमदाबाद गए और वहां से ३१ दिसंबर सन् १८७४ को राजकोट पहुँचे और वहां उन्होंने लगातार ८ उपदेश दे जनता को सम्यक् धर्म पर लगाया और यहीं उन्होंने सब से पहला 'आर्यसमाज' स्थापित किया और यहीं आपने आर्यसमाज के निम्नलिखित दस नियम बनाए :—

(१) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

(२) ईश्वर सच्चिदानंद-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसकी उपासना करने योग्य है।

(३) वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का धर्म है।

(४) सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

(५) सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करना चाहिए।

(६) संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्योद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

(७) सब से प्रीति-पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

(८) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

(९) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिए, किंतु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

(१०) सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्व-हितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

१८ जनवरी सन् १८७५ को स्वामी जी राजकोट से अहमदाबाद आए और वहां उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की; और वहां से चल २९ जनवरी सन् १८७५ को वे बंबई वापिस गये और वहां १० अप्रेल सन् १८७५ में आपने आर्यसमाज की स्थापना की और समाजों के २८ वैधानिक नियम बनाए।

वहां से स्वामी जी पूना आए और वहां आपने ५० के लगभग व्याख्यान देकर आर्यसमाज की स्थापना की और वहां से बड़ोदा आदि होते हुए अप्रेल सन् १८७६ को इंदौर पधारे, जहां

उन्होंने महाराजा को उपदेश दे उन्हें आत्मिक शांति प्रदान की।

जनवरी सन् १८७७ में उस समय के बड़े लाट लार्ड लिटन ने दिल्ली में बड़ा दरबार किया और उसमें स्वामी जी को तथा बाबू केशवचंद्र सेन, नवीनचंद्र राय, मुन्शी कन्हैयालाल, सर सैयद अहमद ख़ां आदि सुधारकों को निमंत्रित किया और वहां इन लोगों ने आपस में विचार-विनिमय किया।

वहां से निपट स्वामी जी ४ फ़रवरी सन् १८७७ को मेरठ से सहारनपुर पधारे और यहां आपने अनेक भाषण दे जनता को सन्मार्ग दिखाया।

वहां से चांदापुर मेले में शास्त्रार्थ करते और व्याख्यान देते हुए स्वामी जी ३१ मार्च सन् १८७७ को लुधियाना और वहां से १६ अप्रैल सन् १८७७ को लाहौर पधारे और यहां आपने २४ जून सन् १८७७ को आर्यसमाज की स्थापना की। वहां से चल २२ अगस्त सन् १८७८ को आपने अमृतसर में आर्यसमाज बनाया।

१३ सितंबर सन् १८७८ को आप जालंधर पधारे और वहां ३५ व्याख्यान देकर पंजाब के अनेक नगरों में धर्म-चर्चा करते हुए आप यू० पी० में लौटे और वहां से चल ७ नवंबर १८७८ को जयपुर होते हुए अजमेर पधारे और यहां आपने व्याख्यानों और शास्त्रार्थों की धूम मचा जनता को वैदिक-धर्म का अनुयायी बनाया।

२२ जनवरी सन् १८७९ को स्वामी जी फिर हरिद्वार के कुंभ

में पहुँचे और वहां सद्धर्म का प्रचार करके देहरादून, मेरठ, अलीगढ़, बरेली, शाजहांपुर, लखनऊ, कानपुर, प्रयाग, काशी, फर्रुखाबाद, मैनपुरी आदि में आर्यसमाज की धूम मचाते हुए, स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थ करते हुए और संभ्रांत व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हुए मेरठ लौटे और यहीं आपका प्रसिद्ध विदुषी रमाबाई से मेल हुआ।

३० दिसंबर सन् १८८१ को स्वामी जी फिर बंबई आए और यहीं पं० श्यामजीकृष्ण वर्मा आपके भक्त बने। वहां से वे रतलाम होते हुए उदयपुर पधारे और यहीं आपने परोपकारिणी सभा स्थापित की। इसके सभापति स्वयं उदयपुर के महाराजा सज्जनसिंह थे और न्यायमूर्ति रानडे आदि इसके सभासद् थे। इंदौर, शाहपुरा आदि रजवाड़ों में प्रचार करते हुए स्वामी जी जोधपुर जाने का विचार करने लगे। चलते समय लोगों ने उन्हें चेतावनी दी कि जोधपुर के लोग प्रायः नृशंस तथा विश्वासघाती हैं, किंतु ऋषि ने न मानी और वे २६ मई सन् १८८३ को अजमेर से सवार हो मार्ग में कष्ट उठाते हुए जोधपुर पहुँच गए और वहां महाराजा ने आपका स्वागत किया। महाराजा के विशाल आंगन में ही स्वामी जी ने व्याख्यानों की धूम मचा दी और नगर की जनता को सद्धर्म के दर्शन कराए।

जोधपुर के महाराजा यशवंतसिंह स्वामी जी के पक्के भक्त थे। वे स्वामी जी की सेवा में प्रति-दिन आते और स्वामी जी भी उपदेश के लिए उनके महल में चले जाते। एक दिन जब स्वामी जी महाराज से मिलने गए तब वहां उनकी वेश्या नन्हीजान भी

बैठी थी। उसका दरबार में आदर था। महाराज ने उसे छिपाने की कोशिश की, किंतु स्वामी जी ने उसे देख लिया। फिर क्या था; स्वामी जी ने महाराणा को फटकारा 'राजन्! राजा सिंह होते हैं; वे कुत्तियों के पीछे नहीं जाते,' इससे जहां महाराणा को लज्जा और अनुताप हुआ, वहां वेश्या क्रोध में पागल हो गई और उसने स्वामी जी के जीवन की इतिश्री करने की ठान ली।

सितंबर २९ की रात थी। स्वामी जी ने सब कार्यों से उपरत हो दूध पिया और वह सो गए। थोड़ी देर बाद उनके पेट में दर्द हुआ और तीन बार वमन हुआ। क्लेश बढ़ गया। प्रातःकाल जब उठे तब फिर वमन हुआ और थोड़ी देर बाद दस्त आने लगे। स्वामी जी को संदेह हुआ कि किसी धर्मांध ने उन्हें विष दे दिया है—उन्होंने नेति-धोती आदि अपने यौगिक उपचार किये, किंतु, जहां पहले कई बार वे खाए विष का उपचार करने में सफल हुए थे, अब की बार न हो सके। डाक्टर अलीमर्दान खां का उपचार आरंभ हुआ और उन्हें दस्तों के साथ हिचकियां बंध गईं और खुश्की बढ़ गई। १५ अक्तूबर को स्वामी जी रोग के बहुत बढ़ जाने पर आबू गए और जब वहां भी शांति न हुई तब २६ अक्तूबर को अजमेर आ गए। २९ अक्तूबर को लाहौर से पं० गुरुदत्त अजमेर पहुँचे और स्वामी जी की सेवा में लग गए। ३० अक्तूबर को दीपमालिका थी। उसी दिन शाम के ६ बजे स्वामी जी प्रसन्न मुख हो सब को आशीर्वाद देकर इस संसार से उपरत हुए।

भारत पर स्वामी जी का महान ऋण है। उन्होंने अपने

छोटे से जीवन में देश के एक कोने से दूसरे कोने तक अपनी पाखंड-खंडनी पताका फहराई और वैदिक-धर्म का नाद बजाया। उनके समय में हिंदू जनता परंपरागत देवी-देवताओं के चक्कर में पड़ एकेश्वरवाद को सर्वथा भुला चुकी थी और परमात्मा के एकांत व्यक्तित्व को भूल चुकी थी। स्वामी जी ने इन देवी-देवताओं और मूर्तिपूजा का खंडन करके भारत को फिर से एकेश्वरवाद की शिक्षा दी और उसमें सच्चा मनुष्यत्व पैदा किया।

मूर्तिपूजा के साथ ही यहां की जनता वेदों और आर्य-ग्रन्थों को भूल आधुनिक संस्कृत और भाषा-ग्रन्थों के जाल में फंस गई थी। दयानंद ने उन्हें निःसार शब्द-शास्त्र से हटा वेदों का अमृत पिलाया।

यह भारत, जो किसी काल में ब्रह्मचर्य का पुजारी था, पिछले दिनों उसके महत्त्व को भूल चुका था और यहां बाल-विवाह आदि अनेक कुप्रथाएं प्रचलित हो गई थीं। स्वामी जी ने इन सब का घोर विरोध कर आर्यों को ब्रह्मचर्य का महत्त्व बताया और उन्हें वीर बनने का संदेश दिया।

इसी उद्देश्य से उन्होंने स्थान-स्थान पर गुरुकुल स्थापित करवाए और उनमें संस्कृत की उच्च शिक्षा के साथ-साथ ब्रह्मचर्य-पालन पर बल दिया।

उन्होंने विधवा-विवाह की प्रतिष्ठा की, मद्यमांसादि का घोर विरोध किया; स्त्रियों को स्वतंत्रता दिलवाई; राजनीतिक स्वतंत्रता

पर बल दिया और हर प्रकार से आर्य जाति को फिर से उसके अतीत गौरव पर स्थापित करने का प्रयत्न किया।

किंतु इन सब बातों से कहीं अधिक महत्त्व की बात, जो स्वामी जी ने की, यह थी कि उन्होंने हिंदुओं की जाति-प्रथा का प्रबल खंडन करके उसे समानता तथा भाईचारे का पाठ पढ़ाया और साथ ही सारे भारत में एक ही भाषा, एक ही धर्म, एक ही समाज, एक ही संस्कृति तथा एक ही सभ्यता का सूत्रपात करके इसे फिर से एक बनाना सिखाया, अखंड रहना सिखाया, और एक तथा अखंड बनकर बाह्य शत्रुओं से लोहा लेने का मार्ग बताया।

स्वामी जी का भारत पर महान् ऋण है। उनकी देन में वीर्य है, शौर्य है, जागृति है और पौरुष है। इस पौरुष की प्रचुरता और प्रखरता में यदि उनसे किसी जाति-विशेष या धर्म-विशेष के प्रति कुछ कठोरता भी हो गई हो तो वे क्षंतव्य हैं—क्योंकि वे महान् होते हुए भी पूर्ण न थे। पूर्णतया एक-मात्र परमात्मा का अपना धर्म है।

भारत और संसार : एक निबंध

संसार की भिन्न २ संस्कृतियां ऐसे बहुत से वनखंडों के समान हैं जिन का अपना २ विशेष सौंदर्य होता है, जिनमें अपने २ विशेष फल, पुष्प तथा पत्ती होते हैं, जिनमें अपने २ विशेष रम्य स्थान, लताकुंज, दीर्घिका, विटपवीथी और जंगल होते हैं परंतु साथ ही साथ जिन में अपने २ विशेष कंटक, उपेक्षित स्थान तथा अपकारक जीव जंतु मक्षिका मत्सर सर्पादि भी होते हैं। कोई वनखंड नितांत शोभाहीन तथा सौंदर्य-रहित नहीं होगा। न ही कोई वनखंड दोषों तथा त्रुटियों से खाली होगा। ऐसे ही हर एक संस्कृति गुणों और दोषों से युक्त होती है। सभी का अधिकार और कर्त्तव्य है कि अपनी संस्कृति के गुणों को सुरक्षित रखते हुए उसके दोषों को दूर करने का प्रयत्न करें और दूसरी संस्कृतियों का उचित सम्मान करते हुए उन से गुणों को ग्रहण करें। न तो यही उचित है कि हम अपनी संस्कृति को हीन समझते हुए उसका तिरस्कार करें, अपनी ही माता से घृणा करें और न ही यह ठीक है कि अपनी संस्कृति को नितांत दोष-रहित और दूसरी संस्कृतियों को नितांत दोषपूर्ण मान कर कूप-मंडूक बने रहें। उचित यही है कि हम अपने स्थान पर खड़े हुए, परन्तु सब ओर देखते हुए अपने स्वत्त्व की रक्षा करते हुए परंतु सब कहीं से गुण ग्रहण करते हुए, विकास के मार्ग पर अग्रसर हों।

प्रत्येक देश में वहां की भौगोलिक परिस्थितियों तथा निवासियों की प्रतिभा के अनुसार संस्कृति का विकास होता है। किसी भी देश के इतिहास पर, रीति-रिवाजों पर, विचार-धाराओं पर उस देश के भूगोल का तथा उस देश में बसने वाले लोगों की प्रतिभा का प्रभाव पड़ता है। परंतु ऐसा भी होता है कि एक संस्कृति दूसरी संस्कृति को अपने प्रभाव से आप्लावित कर देती है जैसे अशोक के समय के पश्चात् भारतीय संस्कृति ने चीन तथा एशिया के प्रदेशों की संस्कृतियों पर अपना प्रभाव डाला था या जिस तरह आधुनिक समय में योरुप की संस्कृति ने संसार भर को आप्लावित कर दिया है। ऐसे अवसरों पर दुर्बल संस्कृतियां तो विजयी संस्कृति के प्रभाव से अपने अस्तित्व को खो देती हैं, मिट जाती हैं परंतु बलवती संस्कृतियां, उस बाढ़ के आगे कुछ समय के लिए दब भले ही जायं किंतु वे अपना अस्तित्व नष्ट नहीं होने देतीं प्रत्युत बाढ़ के निकल जाने पर बाढ़ की छोड़ी हुई उपजाऊ मिट्टी से और अधिक उन्नति और विकास को प्राप्त होती हैं।

आधुनिक काल से पहले संसार के देश प्रायः एक दूसरे से अलग अलग रहते थे परंतु अब देशों का पारस्परिक सम्पर्क ऐसा बढ़ गया है और बढ़ रहा है मानों सारा संसार एक ही देश हो गया है। सहस्रों वर्षों से चली आई संकीर्णताएं नष्ट हो रही हैं और संसार एकता तथा विशालता की ओर अग्रसर हो रहा है। इस सांस्कृतिक विनिमय में भारत का अपना विशेष

स्थान है। भारत में शताब्दियों तक योरुप का राज्य और प्रभाव रहा है, परंतु भारत की संस्कृति का नाश नहीं हुआ। इस संस्कृति में कोई विशेष सत्ता अवश्य है जो पतन के इस दीर्घकाल में भी इसे सजीव रखे रही। पराधीनता के समय में भारत तथा योरुप का पारस्परिक संपर्क अप्राकृतिक था परंतु अब स्वाधीन देश संसार के अन्य देशों तथा संसार की अन्य संस्कृतियों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और परस्पर के विचार-विनिमय से यथोचित लाभ उठा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि हम योरुप तथा भारत के वास्तविक स्वरूप को जानें और संसार को उनकी जो देन है उस पर विचार करें।

योरुप ने विज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नति की है और विज्ञान के फलस्वरूप वहां औद्योगिक क्रांति का आरम्भ हुआ। विज्ञान की उन्नति योरुप ही में क्यों हुई और औद्योगिक क्रांति का आरम्भ वहीं क्यों हुआ; इस के कुछ भौगोलिक कारण भी हैं। योरुप और विशेषतः उत्तरीय योरुप एक शीत-प्रधान प्रदेश है। शीत-प्रधान देशों में जीवन-रक्षा के लिए खानपान, वस्त्र और मकान आदि की अधिक आवश्यकता होती है और प्रकृति देवी के उदार न होने के कारण उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक परिश्रम और संघर्ष करना पड़ता है। यह परिश्रम और संघर्ष ही योरुप की संस्कृति के मूल आधार हैं और यही ऐहिक समृद्धि के कारण हैं। निरंतर परिश्रम और संघर्ष ही अंततः योरुप को विज्ञान तथा

औद्योगिक क्रांति की ओर ले गए। योरुप का इतिहास लड़ाई-भिड़ाई, मार-काट, छीना-झपटी, एक दूसरे को दबाने और एक दूसरे से आत्मरक्षा करने का इतिहास है। यही संघर्षप्रियता जो योरुप के देशों को परस्पर लड़ाती रही, पश्चात् दूसरे देशों की खोज में और उन को बसाने में लग गई। योरुप के प्राय: सभी देश समुद्र के समीप हैं और इंग्लैंड तो चारों ओर से समुद्र से घिरा है। समुद्र सदा से शक्ति और साहस प्रदान करने वाला, संघर्ष के लिए प्रेरित करने वाला, दूर तक फैलने की प्रेरणा देने वाला रहा है। कदाचित् योरुप के लोगों की कुछ जातिगत विशेषताएं भी हों परंतु आधारभूत कारण उनकी संघर्षप्रियता ही है जिससे वे वैज्ञानिक तथा औद्योगिक उन्नति के क्षेत्र में आगे बढ़ गए। प्राचीन भारत ने भी कभी ऐहिक उन्नति के मार्ग पर बहुत प्रगति की थी। महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कदाचित् उस समय इस देश ने भी विज्ञान तथा कला-कौशल में बहुत उन्नति की थी। कुछ भी हो आधुनिक संसार में विज्ञान तथा कला-कौशल का प्रसार करने वाला योरुप ही है।

परंतु क्या विज्ञान की इस उन्नति से, कला-कौशल के इस प्रसार से, इस समृद्धिशालिता से योरुप की आत्मा संतुष्ट है? योरुप ने संसार में सुख-शांति की वृद्धि की है? योरुप ने संसार का केवल उपकार ही किया है? इस प्रश्न का उत्तर पूर्णरूप से योरुप की सफलता के पक्ष में नहीं होगा। निस्सन्देह योरुप तथा उसी विचारधारा के दूसरे देशों में रहन-सहन

का ढंग अधिक अच्छा हो गया है, जीवन-मान ऊंचा हो गया है परंतु साथ ही साथ इसी विचारधारा से उत्पन्न हुई परिस्थितियों के कारण अन्य देशों में आर्थिक शोषण, साम्राज्यवाद तथा दासता ने जो परिणाम पैदा किए हैं वे अत्यंत भयानक हैं। योरुप की इसी संघर्षप्रियता ने दास-प्रथा को जन्म दिया, इसी ने संसार के अन्य देशों को गुलामी की शृंखला में बांधा। वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगिक परिवर्तन ने ही योरुप को अपने माल के लिए मंडियां ढूंढने और साम्राज्य स्थापित करने के लिए बाधित किया। इस आर्थिक शोषण और साम्राज्यवाद का इतिहास करुणाजनक है। इनके परिणामस्वरूप मानवता का कितना ह्रास हुआ, संसार की सुख-शांति को कितनी क्षति पहुंची, वर्णन करना कठिन है। धन-लोलुपता का वेग इतना बढ़ा कि मानवता त्राहि त्राहि कर उठी। स्वयं योरुप में धन सम्पत्ति के बाहुल्य के होते हुए भी हर दस बीस बरस के पश्चात् एक भयानक युद्ध अनिवार्य सा हो गया है। खाने-पीने पहनने की सामग्री होते हुए भी, विशाल भवनों में रहते हुए भी, योरुप के देश एक-दूसरे के रक्त के पिपासु हो रहे हैं। यह सब प्रकट करता है कि इतनी ऐहिक उन्नति होने पर भी योरुप की अंतरात्मा संतुष्ट नहीं हो सकी, योरुप अपने में कोई कमी अवश्य अनुभव करता है। धन-सम्पत्ति में खेलता हुआ भी योरुप जीवन की ओर नहीं, प्रत्युत मृत्यु की ओर बढ़ा चला जा रहा है। योरुप की संस्कृति में ऐसी अवश्य कोई अपूर्णता है जो उसे सर्वतोमुखी सुख-शांति की प्राप्ति से रोकती है।

दूसरी ओर भारत के जलवायु ने भारत को धन-धान्य-सम्पन्न और भारतीय मानव को संतोषप्रिय बना दिया। बहुत प्राचीन काल में भारतीय जनता ने अनुभव कर लिया कि एक तो देश के गरम होने से जीवन-यात्रा के लिए अधिक सामग्री की आवश्यकता नहीं है और फिर प्रकृति-देवी इतनी उदार है कि सब आवश्यक पदार्थ नितांत सुलभ हैं। भारत में मनुष्य को जीवन-यात्रा के लिए अधिक संघर्ष की आवश्यकता नहीं हुई और उसने प्रकृति के साथ प्रतिद्वन्द्व का नहीं प्रत्युत बंधुत्व का सम्बन्ध स्थापित किया। योरुप की संस्कृति का विकास चारदीवारी के अन्दर हुआ परन्तु भारतीय संस्कृति तपोवनों में विकसित हुई। बहुत प्राचीनकाल में, उपनिषदों के समय में, हम भारत में, सुन्दर पर्वतीय प्रदेशों में, रम्य वनस्थलियों में, नदीनद सरिता के तटों पर, भारतीय संस्कृति को बाल्यकाल से यौवनावस्था में परिणत होते देखते हैं। रामायण और महाभारत का अध्ययन करते हुए भी हम स्थान २ पर ऋषियों के आश्रमों का अवलोकन करते हैं। यही आश्रम भारतीय संस्कृति की आधार-शिला हैं। उन आश्रमों में भारत के नर-रत्नों ने लोक-परलोक के तत्वों का मनन किया और जीवन तथा मृत्यु के रहस्यों की खोज की। रात्री के खुले आकाश में, चांद और तारों से सुशोभित विशाल नभस्तल में, प्रातः-कालीन अरुणोदय तथा सायंकालीन तमोविस्तार में, वर्षाकाल के मत्त गजदल समान मेघों में तथा भारतीय प्रकृति-सुन्दरी के भिन्न २ वेषों में भारत के पूर्वजों ने एक रहस्य के दर्शन किए।

उन वन्य प्रयोगशालाओं में उस रहस्य की सत्यता और निश्चितता के परीक्षण के लिए प्रयोग होते रहे। अंततः ऋषियों ने पुकार कर, निःसंकोच कह दिया—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्, तमेव विदित्वाति मृत्युमेति, नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय (मैंने उस महान् तेजपुञ्ज को जान लिया है जो अन्धकार से परे है; उसी को जान कर मृत्यु से पार होते हैं; इसके लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।) भारत के उन ऋषियों ने प्रकृति में ओतप्रोत हो रहे उसी रहस्य का अपने अन्तःकरण में साक्षात्कार किया और वे आने वाली पीढ़ियों के लिए यही आत्म-साक्षात्कार का उच्चादर्श छोड़ गए। यही आदर्श भारतीय संस्कृति की आधारशिला बन गया। इसी आधारशिला पर भारतीय जीवन का प्रासाद खड़ा हुआ। आंधियां आईं, तूफान आए, परन्तु भारतीय जीवन की आधारशिला स्थिर रही।

यह धार्मिक भावना, यह आत्मजिज्ञासा, यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण भारत की विशेषता रही है। इसी से आत्मसंयम तथा आत्मसन्तोष की उत्पत्ति हुई। धनलोलुपता को एक विशेष अवगुण और सन्तोष को बड़ा गुण माना गया। यद्यपि भारत में वर्णाश्रम धर्म का विकास हुआ, जिस वर्णाश्रम धर्म में ब्राह्मणों तथा संन्यासियों के साथ २ राष्ट्र-शक्ति के संचालक क्षत्रियों, धन-धान्य के स्वामी वैश्यों तथा गृहधर्म का पालन करने वाले गृहस्थों का भी स्थान था, तथापि इस देश के सामने आदर्श वही तपोवन-निवासी ऋषियों का ही रहा। राष्ट्र की

दूसरी ओर भारत के जलवायु ने भारत को धन-धान्य-सम्पन्न और भारतीय मानव को संतोषप्रिय बना दिया। बहुत प्राचीन काल में भारतीय जनता ने अनुभव कर लिया कि एक तो देश के गरम होने से जीवन-यात्रा के लिए अधिक सामग्री की आवश्यकता नहीं है और फिर प्रकृति-देवी इतनी उदार है कि सब आवश्यक पदार्थ नितांत सुलभ हैं। भारत में मनुष्य को जीवन-यात्रा के लिए अधिक संघर्ष की आवश्यकता नहीं हुई और उसने प्रकृति के साथ प्रतिद्वन्द्व का नहीं प्रत्युत बंधुत्व का सम्बन्ध स्थापित किया। योरुप की संस्कृति का विकास चारदीवारी के अन्दर हुआ परन्तु भारतीय संस्कृति तपोवनों में विकसित हुई। बहुत प्राचीनकाल में, उपनिषदों के समय में, हम भारत में, सुन्दर पर्वतीय प्रदेशों में, रम्य वनस्थलियों में, नदीनद सरिता के तटों पर, भारतीय संस्कृति को बाल्यकाल से यौवनावस्था में परिणत होते देखते हैं। रामायण और महाभारत का अध्ययन करते हुए भी हम स्थान २ पर ऋषियों के आश्रमों का अवलोकन करते हैं। यही आश्रम भारतीय संस्कृति की आधार-शिला है। उन आश्रमों में भारत के नर-रत्नों ने लोक-परलोक के तत्वों का मनन किया और जीवन तथा मृत्यु के रहस्यों की खोज की। रात्री के खुले आकाश में, चांद और तारों से सुशोभित विशाल नभस्तल में, प्रातःकालीन अरुणोदय तथा सायंकालीन तमोविस्तार में, वर्षाकाल के मत्त गजदल समान मेघों में तथा भारतीय प्रकृति-सुन्दरी के भिन्न २ वेषों में भारत के पूर्वजों ने एक रहस्य के दर्शन किए।

उन वन्य प्रयोगशालाओं में उस रहस्य की सत्यता और निश्चितता के परीक्षण के लिए प्रयोग होते रहे। अंततः ऋषियों ने पुकार कर, निःसंकोच कह दिया—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्, तमेव विदित्वाति मृत्युमेति, नान्यः पन्था: विद्यते अयनाय (मैंने उस महान् तेजपुंज को जान लिया है जो अन्धकार से परे है; उसी को जान कर मृत्यु से पार होते हैं; इसके लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।) भारत के उन ऋषियों ने प्रकृति में ओतप्रोत हो रहे उसी रहस्य का अपने अन्तःकरण में साक्षात्कार किया और वे आने वाली पीढ़ियों के लिए यही आत्म-साक्षात्कार का उच्चादर्श छोड़ गए। यही आदर्श भारतीय संस्कृति की आधारशिला बन गया। इसी आधारशिला पर भारतीय जीवन का प्रासाद खड़ा हुआ। आंधियां आईं, तूफान आए, परन्तु भारतीय जीवन की आधारशिला स्थिर रही।

यह धार्मिक भावना, यह आत्मजिज्ञासा, यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण भारत की विशेषता रही है। इसी से आत्मसंयम तथा आत्मसन्तोष की उत्पत्ति हुई। धनलोलुपता को एक विशेष अवगुण और सन्तोष को बड़ा गुण माना गया। यद्यपि भारत में वर्णाश्रम धर्म का विकास हुआ, जिस वर्णाश्रम धर्म में ब्राह्मणों तथा संन्यासियों के साथ २ राष्ट्र-शक्ति के संचालक क्षत्रियों, धन-धान्य के स्वामी वैश्यों तथा गृहधर्म का पालन करने वाले गृहस्थों का भी स्थान था, तथापि इस देश के सामने आदर्श वही तपोवन-निवासी ऋषियों का ही रहा। राष्ट्र की

सर्वतोमुखी उन्नति के लिए क्षत्रियवर्ण और वैश्यवर्ण को भी उचित स्थान दिया गया, ब्रह्मचर्य-आश्रम और गार्हस्थ्याश्रम को भी उच्च स्थान प्राप्त हुआ परंतु अंतिम ध्येय वही त्याग, संन्यास, तपोवन रहा। कदाचित् भारतवर्ष ही ऐसा देश है जहां राजकुमार राजपाट को लात मार कर तपोवन की ओर चल दिए हैं, जहां सम्राटों ने भिक्षु का जीवन व्यतीत करना स्वीकार किया। संसार का कौनसा अन्य देश है जहां बुद्ध, महावीर और अशोक पैदा हुए?

यद्यपि भारत की संस्कृति का आधार वह संघर्ष-प्रियता का भाव नहीं था जिसने योरुप की संस्कृति को जन्म दिया तथापि इस का यह अर्थ न समझा जाए कि भारत ने परिश्रम-हीनता और अकर्मण्यता का समर्थन किया है। ऐसी बात नहीं है। भारतीय जीवन पौरुषहीन और परिश्रम-रहित नहीं था। ऐसे ही यद्यपि भारतीय संस्कृति ऐहिक लोलुपता के आधार पर स्थित नहीं है तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि भारत ने धन-सम्पत्ति और ऐहिक सुख की अभिलाषा को राष्ट्रीय जीवन से एकदम निकाल बाहिर किया था भारत के प्राचीन तत्व-द्रष्टाओं ने जीवन के सभी अंगों पर ध्यान दिया। बहुत चिंतन के पश्चात् उन्होंने मानव जीवन का उद्देश्य 'धर्मार्थ-काम-मोक्ष' निश्चित किया था। अंतिम ध्येय वही मोक्ष, आत्म-साक्षात्कार रखा, परंतु 'अर्थ' और 'काम' को, धन और ऐहिक सुख-प्राप्ति को भी जीवन के उद्देश्यों में स्थान दिया। और सब से पहले धर्म को स्थापित किया। 'अर्थ' और

'काम' जीवन के उद्देश्य निस्सन्देह हैं परंतु तभी तक जब तक वे धर्म के अनुकूल हैं, धर्म के नियमों का उलंघन नहीं करते हैं। 'अर्थ' और 'काम' को न केवल जीवन में स्थान दिया गया प्रत्युत इन्हें जीवन-यात्रा के लिए, मानव जीवन की सफलता के लिए आवश्यक बना दिया गया। साधारणतया गृहस्थ-जीवन के पश्चात् ही त्याग की अनुमति दी गई है। गृहस्थ के जीवन को सफलतापूर्वक व्यतीत कर सकने पर ही कोई साधारण व्यक्ति सन्यास का अधिकारी बन सकता है।

वास्तव में भारत के उन दूरदर्शी महापुरुषों ने जीवन के सभी अंगों का बड़ा सुन्दर समन्वय कर दिया था। यही कारण है कि जीवन का अन्तिम ध्येय मोक्ष अथवा आत्म-साक्षात्कार होते हुए भी भारत निष्कर्मण्य तथा सांसारिक शक्तिविहीन नहीं बन गया था। भारत में बड़े २ सम्राट् भी थे, दिग्विजय करने वाली सेनाएं भी थीं, देश-रक्षा तथा दुष्ट-दलन के लिए कटिबद्ध क्षत्रिय दल भी थे, देश तथा विदेश से वाणिज्य व्यापार करने वाले वैश्य भी थे, कृषिकार्य तथा सेवा में लग्न जनता भी थी परन्तु उनके सिर पर, सब के आगे, विराज रहा था आत्म-साक्षात्कार तथा ज्ञान में निरत ब्राह्मण, तपस्वी, सन्यासी।

रामायण और महाभारत में भारतीय जीवनादर्श का बहुत सुन्दर चित्र खींचा गया है। क्षत्रिय-वंशावतंस राम, सब शक्तियों से सम्पन्न होते हुए, युद्ध-विद्या में निपुण होते हुए, आश्रम-निवासी ऋषियों के आगे नतमस्तक हैं। क्षत्रिय-शक्ति

पर ब्रह्म-तेज का अंकुश है राष्ट्र के लिए क्षात्रशक्ति अनिवार्य है परंतु जब वह शक्ति धर्म के अंकुश के अधीन नहीं रहती, सीमा का उल्लंघन कर जाती है। जब उस का संचालन किसी नैतिक सत्ता के हाथ में नहीं रहता तो वही शक्ति उस नदी के समान, जिस में बाढ़ आ गई हो, किनारों को तोड़ देती है, सभी मर्यादाओं का उल्लंघन कर जाती है, और विनाश का कारण बन जाती है। इसी शताब्दी में हमारी आंखों के सामने संसार के कई देशों में क्षात्रबल का संचार हुआ, क्षात्र-शक्तियों का आविर्भाव हुआ परंतु नैतिक नियंत्रण के न होने से वे शक्तियां न केवल अन्य देशों के लिए अशांति का कारण बनीं प्रत्युत अपने देशों को भी पतन के गर्त में गिरा गईं। इसी लिए तत्ववेत्ताओं ने क्षात्र-बल को निरंकुश नहीं छोड़ दिया था बल्कि उस पर धर्मनीति में निपुण त्यागी और तपस्वी व्यक्तियों का अंकुश रख दिया था। राजाओं तथा क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मण तथा तपस्वी जनता के अधिक श्रद्धापात्र थे। राजा लोग, ब्राह्मणों तथा तपस्वियों का निरादर करके, उनकी आज्ञाओं का उल्लंघन करके, जनता के श्रद्धास्पद नहीं बन सकते थे।

यहां ब्राह्मण तथा तपस्वी की सर्वोपरि सत्ता का वर्णन किया गया है। ब्राह्मण का अर्थ कोई आजकल का प्रचलित जाति-समुदाय नहीं है। वर्ण-धर्म का आधार गुण, कर्म और स्वभाव थे। जन्म मात्र से कोई पूज्य या अपूज्य नहीं था। यह ठीक है कि जैसे कुल में कोई उत्पन्न हो, जैसे वातावरण

में किसी का पालन-पोषण हो जैसे संगति में किसी का समय व्यतीत हो वैसा प्रभाव उसके जीवन पर पड़ता ही है परन्तु किसी के वर्ण का निर्णय करने की अन्तिम और वास्तविक कसौटी उसके गुण, कर्म और स्वभाव ही थे। इस के अतिरिक्त वर्ण-धर्म में छोटे-बड़े या उच्च-नीच शब्दों का प्रयोग किसी गर्हित अर्थ में नहीं था। प्राणिमात्र विकास की सीढ़ी पर चढ़े चले जा रहे हैं, जन्म-जन्मांतरों से यह विकास-क्रम चल रहा है, जो व्यक्ति अपने परिश्रम से, अपनी साधना से, आगे निकल गये हैं, ऊंचे चढ़ गये हैं, उन्हें ऊंचा या बड़ा कह दिया गया और जो इस विकास-क्रम में अभी पीछे हैं, उन्हें छोटा कह कर वर्णन कर दिया गया। यात्रा में आगे बढ़ा हुआ व्यक्ति भी यदि अपनी गति को शिथिल कर दे, यदि प्रमाद के वश हो जाए, यदि थक-हार कर बैठ जाए, तो पीछे वाले यात्री आगे निकल सकते हैं, बड़े छोटे और छोटे बड़े बन सकते हैं। जीवन-शक्तियों के विकास पर ही वर्ण-धर्म का आधार था। जिस व्यक्ति में मानवता की उच्चतम शक्तियों का विकास था, वही ब्राह्मण था और जैसे २ विकास की मात्रा कम होती जाती थी, वैसे २ व्यक्ति अन्य क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णों में गिने जाते थे।

महाभारत का अध्ययन करते हुए हम देखते हैं कि कथा के आरम्भ में सब ओर सांसारिक समृद्धि है, राजवैभव है, बड़े २ राजप्रासाद खड़े हैं, सेनाओं के दल सुसज्जित हैं, जीवन का संग्राम चल रहा है, संघर्ष है, कोलाहल है। सांसारिक सुखों की कमी

नहीं है परन्तु अंत में हम संघर्ष को समाप्त, कोलाहल को शांत और वैभव को नष्ट हो गया देखते हैं और हमारी मानसिक आंखों के सामने पांडव और द्रौपदी हिमाचल की ओर जा रहे दिखाई देते हैं। दृष्टान्तरूप से यही भारतीय जीवन का आदर्श था। संसार का धन-वैभव भी ठीक, ऐहिक सुख सम्पत्ति भी उचित, सत्कामनाओं की पूर्ति भी अनुमत परन्तु अंतिम ध्येय था वही मोक्ष, तपोवन, आश्रम।

शताब्दियों की दासता के कारण, लम्बी गहन निद्रा के कारण, आज एक भारतीय को कदाचित् यह विश्वास करना कठिन हो कि यह भारतीय संस्कृति न केवल भारत को सर्वतोमुखी उन्नति के पथ पर ले गई, प्रत्युत इस का प्रसार संसार के अन्य देशों में भी हुआ, इसका प्रभाव बाह्य संसार पर भी पड़ा। सभी ओर दासता के समय की उपज, अकर्मण्यता और शिथिलता को देख कर आज एक भारतीय समझ ही नहीं सकता कि किसी प्राचीन समय में इस देश से धार्मिक तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति को लेकर ब्राह्मण तथा भिक्षु, रक्षादण्ड को धारण करके क्षत्रिय और वाणिज्य-सामग्री को लेकर वैश्य अन्य देशों की ओर जल तथा स्थल दोनों मार्गों से यात्रा करते थे, और भारतीय संस्कृति का प्रसार करते थे। परन्तु इतिहास साक्षी है। यद्यपि अभी इतिहास के इस क्षेत्र में बहुत खोज नहीं हुई है तथापि आज तक इस विषय के ऐतिहासिकों ने जो अन्वेषण किये हैं उन से ऊपरिकथित बातों की सत्यता निस्संदिग्ध रूप से स्थापित हो जाती है।

पहली शताब्दी से भी पूर्व भारत का अपना समुद्री बेड़ा था, भारत सब साधनों से सम्पन्न था। कौटिलीय अर्थशास्त्र में, जो चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में प्रणीत हुआ, जलयानों तथा जलमार्ग के व्यापारियों पर विशेष कर लगाने का वर्णन है। प्राचीन ग्रीक तथा अरब साहित्य से भी इस बात की पुष्टि होती है। बंगाल में ताम्रलिप्ति, पूर्वीय समुद्रतट पर कावेरीपट्टम और गुजरात में भरुकच्छ नाम की प्राचीन बंदरगाहों के उल्लेख दो सहस्र वर्ष से भी अधिक पुराने भारतीय इतिहास में मिलते हैं। एक २ जलयान में सौ तक व्यापारियों के यात्रा करने का उल्लेख मिलता है। समुद्र पार दूर २ के देशों तक भारत का व्यापार फैला था। ईसा से पूर्व पांचवीं शताब्दी में मिश्र देश के प्राचीन नगर मैम्फिस में भारतीय व्यापारियों की बस्ती विद्यमान थी। ईसा से पहले के ग्रीक-साहित्य में उल्लेख है कि भारत से वाणिज्य का माल स्थल के रास्ते योरुप के देशों को जाता था। ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी के एक प्रसिद्ध रोमन लेखक ने इस बात पर आपत्ति की थी कि भारतीय माल के बदले उसके देश से निरन्तर सोना भारत को जा रहा था। चीन के साथ व्यापार के दो मार्ग थे, जलमार्ग जो ताम्रलिप्ति से बर्मा, मलाया और पूर्वीय द्वीपों से होकर जाता था और स्थल मार्ग जो उत्तर-पश्चिम से पर्वतों को पार करके जाता था। इस देश से हाथी तक जलयानों के द्वारा अन्य देशों को ले जाये जाते थे।

व्यापारिक सम्बन्धों के अतिरिक्त बहुत से देशों में इतने

भारतीय जाकर स्थायी रूप से बस गए थे कि वहां पर उन के बड़े २ नगर निर्मित होकर खड़े हो गए। भारतीयों के बाह्य देशों में जाकर बसने की योजनाओं को कलिंग, पल्लव तथा मालव राज्यों ने प्रोत्साहित किया। ये अधिनिवेश ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास आरम्भ हुए और ये मलाया, जावा, सुमाटरा, बोर्नियो, बाली, फिलेपीन आदि पूर्वीय द्वीपों में तथा स्याम और हिन्द-चीन आदि देशों में थे। आजतक उन स्थानों की भाषाओं में संस्कृत शब्दों की भरमार है, साहित्य में भारतीय परम्पराओं का आभास है, राज्य-शासन में भारतीयता की झलक है। वहां के बहुत से नगरों के नाम भारतीय नामों पर रखे गए जैसे पांडुरंग, कम्बोज, सिंहपुर आदि। पांडुरंग नगर की स्थापना तीसरी शताब्दी में और कम्बोज की स्थापना पांचवीं शताब्दी में हो चुकी थी। शैलेंद्र नाम के राजकुमार ने कलिंग देश से जाकर श्रीविजय नाम के राज्य की स्थापना की। ऐसे ही जय-वर्मा नाम के राजकुमार ने एक अन्य राज्य स्थापित किया। उस के पुत्र यशोवर्मा ने उस राज्य की राजधानी को इतना उन्नत किया कि उसकी जनसंख्या १० लाख तक पहुँच गई और वह नगर अपने समय के रोम नगर से बड़ा था।

भारतीय संस्कृति का प्रभाव एशिया के लगभग सभी देशों पर पड़ा था। सम्राट् अशोक के समय से भारतीय संस्कृति की धाराएं अन्य देशों की ओर प्रवाहित होनी आरम्भ हो गई थीं। अशोक के जीवनकाल में उसके भाई और बहिन महेंद्र और संघमित्रा बौद्धधर्म के प्रचारार्थ लंका पहुँचे और उन्होंने वहां जा

कर अपने साथ भारत से ले जाई गई, बोधीवट की शाखा को स्थापित किया जिसने कालान्तर में एक महान् वृक्ष का रूप धारण किया। चीन में बौद्धधर्म प्रथम शताब्दी से पहले पहुंच चुका था। उस समय के आसपास एक भारतीय विद्वान् काश्यपमतुंग के उस देश को जाने का उल्लेख है। छठी शताब्दी में जब भारत से बौद्धसंघ के अध्यक्ष चीन गए तो वहां पर एक ही प्रान्त में ३००० भारतीय बौद्धभिक्षु और १०००० भारतीय परिवार विद्यमान थे। भारत के बहुत से विद्वान् अपने साथ बौद्धधर्म के ग्रंथ ले गए और उन्होंने उनका चीनी भाषा में अनुवाद किया और उस भाषा में स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे। पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में उस देश में गये एक विद्वान् कुमारजीव की चीनी भाषा में लिखी लगभग ५० पुस्तकें हम तक पहुंची हैं। छठी शताब्दी के एक ऐसे ही विद्वान् जिनगुप्त की चीनी भाषा में अनुवाद की गई लगभग ४० पुस्तकें मिलती हैं। बहुत से चीनी विद्वान् यात्रा तथा अध्ययन के लिए भारत-वर्ष में आए। फ़ाहीन नाम का विद्वान् चौथी शताब्दी के आस-पास गुप्तकाल में भारत में आया। इस देश में आये चीनी यात्रियों में से सबसे प्रसिद्ध ह्यूनसांग है। वह सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन के समय में आया और १५ वर्ष तक इस देश में भ्रमण करता रहा। केवल काश्मीर में वह दो वर्ष तक रहा और वहां पर राजा की ओर से नियुक्त किये गए २० लेखक उसके लिए बौद्ध ग्रन्थों की नकल करते रहे। तिब्बत में बौद्धधर्म का अधिक प्रसार उन विद्वानों ने किया जो मुसलमानों के आक्रमण-

काल में भारत से वहां चले गए थे। पूर्वीय द्वीपों, बर्मा, मलाया, हिंद्चीन तथा स्याम में प्रथम शताब्दी से ही भारतीय संस्कृति और धर्म का प्रसार आरम्भ हो गया था। सातवीं शताब्दी में जब चीनी यात्री इत्सिंग जलमार्ग से भारत की ओर आ रहा था तो वह रास्ते में सुमाटरा में कुछ मास तक संस्कृत के अध्ययन के लिए ठहर गया। उन देशों तथा द्वीपों में आजतक भारतीय संस्कृति के स्मारक, प्राचीन मन्दिरों तथा नगरों के भग्नावशेष, विद्यमान हैं। एक प्रसिद्ध मन्दिर में भगवान् बुद्ध का सारा जीवन चित्रांकित है। ऐसे ही उस मन्दिर में विष्णु, राम तथा कृष्ण की जीवनियां भी चित्रों में अंकित हैं।

भारत के उत्तर-पश्चिम में इस समय मुसलमान देश हैं। कदाचित् यह विश्वास करना कठिन है कि किसी समय ये सब प्रदेश बौद्धधर्म के केन्द्र और भारतीय संस्कृति के पोषक थे। अभी कुछ समय पहले प्रसिद्ध बौद्ध-लेखक अश्वघोष के नाटकों के कुछ खंड मध्य एशिया से मिले थे। भारत के उत्तर-पश्चिम के इसी प्रदेश में प्रथम शताब्दी के आसपास ग्रीक मूर्तिकला के प्रभाव से गांधार मूर्तिकला का विकास हुआ। सिन्धु से लेकर मध्य एशिया तक सारे प्रदेश में असंख्य बौद्ध-विहार थे जिन में सहस्रों भिक्षु रहते थे। ह्यूनसांग इसी मार्ग से भारत आया था। उसने लिखा है कि बलख के एक विहार में १००० भिक्षु निवास करते थे, जिनके खानपान और अध्ययन का प्रबन्ध विहार की ओर से था। उसके कथनानुसार ग़ज़नी के आसपास लगभग १०० विहार थे और उनमें १०००० भिक्षु निवास करते

थे। यह वही ग़ज़नी है जहां से तीन चार सौ वर्ष पश्चात् महमूद भारत में आया था।

हमने ऊपर संक्षेप से कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया है जिनसे सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृति कोई निष्प्राण तथा निर्जीव संस्कृति नहीं थी प्रत्युत एक जीवित-जागृत, प्रगतिशील और सजीव संस्कृति थी जिसका प्रभाव एशिया के प्रायः सभी देशों पर पड़ा। भारतीय लोग सदा से दास, कूपमंडूक तथा पुरुषार्थहीन नहीं थे बल्कि स्वतंत्र, उत्साहशील और कर्मकुशल थे।

अब हम भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता का वर्णन करते हैं। संसार के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि धर्म के नाम पर भयानक लड़ाई-झगड़े, मारकाट और युद्ध हुए। संसार के कुछ प्रसिद्ध धर्मों के इतिहास में धर्म के नाम पर क्या २ अत्याचार नहीं हुए। हम उन धर्मों के प्रवर्तकों को दोष नहीं देते परंतु इतिहास में जो कुछ हुआ, उसका विवेचन करते हैं। एक प्रकार की संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, हृदय की अनुदारता उन धर्मों के इतिहास में दृष्टिगोचर होती है। इसके प्रतिकूल भारतीय धर्मों के इतिहास का आंचल इस साम्प्रदायिक रक्तपात से नितांत अकलुषित रहा। यह नहीं कि भारतीय विचारकों में परस्पर मतभेद नहीं थे, अथवा परस्पर शास्त्रार्थ नहीं होते थे। सदा से भारत में असंख्य मत-मतांतर रहे हैं, असंख्य सम्प्रदाय रहे हैं, जिन में परस्पर वैमनस्य भी होता रहा होगा परंतु कभी धर्म या विचारों की

विभिन्नता के कारण रक्तपात करना भारत के मस्तिष्क में नहीं आ सका। इसका कारण यह था कि बहुत प्राचीनकाल से भारत के ऋषियों ने जान लिया था कि एक मस्तिष्क दूसरे मस्तिष्क से भिन्न है इसलिए सब को विचारों की स्वतंत्रता दे दी थी। भगवान् की प्राप्ति के लिए भिन्न २ मार्गों की उपयोगिता को भारत ने स्वीकार कर लिया था। परमात्मा के और उसकी शक्तियों के भिन्न २ रूपों की सत्ता को मान लिया था। वेद ही ने कह दिया था, 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति, अग्निंयमं मातरिश्वानमाहुः' (उस एक को ऋषियों ने बहुत प्रकार से वर्णन किया है, किसी ने अग्नि कहा है, किसी ने यम कहा है और किसी ने मातरिश्वन् कहा है) ऐसे स्फुट वेदवाक्य के होते पूजा और उपासना की विभिन्नता के कारण रक्तपात क्यों होता? यह विचार-स्वतंत्रता और उपासना-स्वतंत्रता यहां तक पहुँची है कि एक ही घर में भिन्न २ सम्प्रदायों के अनुगामी स्त्रीपुरुष उसी प्रेमभाव से रहते हैं मानों वे एक सम्प्रदाय के हों।

हां, यदि प्रतिबंध लगाया है तो आचरण पर लगाया है। आचरण में उच्छृङ्खलता तथा निरंकुशता की अनुमति नहीं दी गई है। सदाचार और शिष्टाचार का बंधन सब के लिए है। समाज की अवस्था को बनाए रखने तथा दूसरों की स्वाधीनता की रक्षा के लिए सदाचार के सर्वमान्य नियम सब के लिए आवश्यक थे। दूसरे हर एक भारतीय सम्प्रदाय की विचार-धारा तथा साधना का आधार सदाचार ही है।

हमने यहां संक्षेप से भारतीय संस्कृति की कुछ आधारभूत

विशेषताओं का और इस संस्कृति के कुछ अन्य देशों पर पड़े प्रभाव का वर्णन किया है। एक समय आया जब कि प्राचीन भारतीय संस्कृति पर एक आवरण पड़ गया, अब यह संस्कृति न केवल अन्य देशों को प्रभावित करना छोड़ बैठी प्रत्युत इस अपने देश में भी मृतप्राय हो गई। दासता की काली शताब्दियां आईं। देश पतन की गहन निद्रा में सो गया। बाहिर से नई २ जातियां आईं। अब बाहिर से आने-वालों को हज्म करके अपना अंग बना लेने की शक्ति भारत में न रही थी। उस निद्रा में कभी २ जागरण के क्षण आए परंतु फिर निद्रा का प्रभुत्व हो गया। अंततः उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक महान् जागरण आरम्भ हुआ। वही अरुणोदय बीसवीं शताब्दी में प्रातःकाल में परिणत हो गया। देश में राजा राममोहनराय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानंद, विवेकानंद, रामतीर्थ आदि महापुरुषों का जन्म हुआ। सब ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की स्मृति दिलाई। सब ने निद्राकाल से पहले के प्रबुद्ध जीवन की ओर ध्यान आकर्षित किया। शताब्दियों के सूख कर रुंड मुंड हुए महावट में फिर से कोंपलें निकलीं। एक सर्वतोमुखी पुनरुत्थान आरम्भ हुआ। सांस्कृतिक जागरण के साथ २ राजनीतिक जागृति आई। अंत में भारत के कार्य-क्षेत्र में दो महापुरुषों के दर्शन हुए, एक को बंगाल ने उत्पन्न किया और दूसरे को गुजरात ने। कवि-सम्राट् रवींद्रनाथ टैगोर पर हम अन्यत्र लिख चुके हैं। महात्मा गांधी ने देश की काया पलट दी। उन्होंने भारत को तथा संसार को एक नया अहिंसात्मक

शस्त्र 'सत्याग्रह' दिया। संसार ने शताब्दियों से भारत को पद-दलित कर रखा था। उस संसार से युद्ध करने के लिए उन्होंने इस नए शस्त्र का आविष्कार किया। उनके रचनात्मक कार्यक्रम से देश की निर्जीव अस्थियों में प्राण आगए और उनके सत्याग्रह-संग्राम से परतंत्रता की शृंखलाएं ढीली हो गईं। महायुद्ध के फलस्वरूप संसार में बड़े २ परिवर्तन हुए।

भारत स्वतंत्र हुआ। तत्पश्चात् जो कुछ हुआ, उस के वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। हां, गांधी जी चले गए परंतु जाते २ स्वतंत्रतारूपी नवजात शिशु के प्राण बचा गए।

अब भारत ने अपना भविष्य बनाना है। अपनी प्राचीन अंतरात्मा का साक्षात्कार करना है। संसार भारत की ओर देख रहा है। दुनिया गांधी को जन्म देने वाले देश से बहुत आशा लगाए बैठी है। गांधी के जिस प्रेम-संदेश ने भारत की परतंत्रता को स्वतंत्रता में परिवर्तित कर दिया; क्या वही संदेश, देश की स्वतंत्रता से बल पाकर संसार में सर्वांगीण स्वाधीनता का प्रवर्तक न होगा, यह प्रश्न संसार पूछता है। देखें, भारत इस का क्या उत्तर देता है?

काश्मीर

भगवान् ने भारतवर्ष को सब शक्तियों का भांडार, सब धन-धान्य का आगार और सब सुन्दरताओं तथा शोभाओं का घर बनाया है। इस विशाल देश में, इसके भिन्न २ प्रांतों तथा प्रदेशों में सब प्रकार की भूमि पाई जाती है और प्राय: सब प्रकार का जलवायु मिलता है। एक ओर हिमाचल की हिमाच्छन्न गगनचुम्बी, संसार भर में सब से ऊंची चोटियां सिर उठाए खड़ी हैं तो दूसरी ओर समुद्रतल से कुछ ही फुट ऊंची समतल भूमि सैंकड़ों नहीं सहस्रों मीलों तक चली गई है। और इन दोनों पराकाष्ठाओं के बीच में सब प्रकार की निम्नोन्नत भूमि पाई जाती है। नितांत उत्तरीय भागों के सख्त से सख्त शीत से लेकर दक्षिण का गरम से गरम जलवायु मिलता है। एक ओर संसार भर में सब से अधिक वर्षा वाले स्थान हैं तो दूसरी ओर जल की बूंद को तरसते हुए मरुस्थल। वर्ष भर में छ: ऋतुओं की अपनी २ शोभा और सुन्दरता। नदी नद सरोवर का अपना २ सौंदर्य। बहुवेष-धारिणी यह भारतीय वसुंधरा हर वेष में आकर्षक और मोहक है। तभी कवियों ने इस देश को 'सारे जहां से अच्छा' और इस मातृभूमि को 'सुजलासुफला मलयजशीतला' कहकर इसका यशोगान किया है।

वैसे तो इस पुण्यभूमि का अंग प्रत्यंग एक एक भूषण, सुन्दरता का आगार है परंतु इस के सिर पर जो काश्मीर प्रदेश मुकुट के समान टिका हुआ है, उसकी शोभा का पारावार नहीं है। जो विदेशी यात्री भारतवर्ष को देखने आता है, वह काश्मीर को देखे बिना अपने को संतुष्ट और तृप्त नहीं पाता। जिन को तुलना करने का अधिकार है वे कहते हैं कि योरुप में जो प्राकृतिक सौंदर्य स्विट्ज़रलैंड को प्राप्त है उस से कहीं अधिक सौंदर्य एशिया में काश्मीर के हिस्से में आया है। एक मुग़ल सम्राट् ने तो काश्मीर के सम्बंध में कह दिया था—"यदि कोई स्वर्ग इस पृथ्वीतल पर है तो यही है, यही है, यही है।"

रियासत जम्मू और काश्मीर तो एक बृहदाकार प्रदेश है, जिसका अधिक भाग हिमाच्छन्न पर्वतों से ढका है। इसके जिस विशेष भाग का नाम काश्मीर है वह इस रियासत के बीच में ऊंचे पर्वतों से घिरा हुआ एक मैदान है जो लगभग ८० मील लम्बा और तीस मील चौड़ा है और समुद्रतल से लगभग ५००० फुट ऊंचा है। इसके चारों ओर बरफ़ से ढके हुए पर्वतों की दीवार होने से इसकी प्राकृतिक सुन्दरता और अधिक बढ़ गई है। इस मैदान के बीचोंबीच जेहलम नदी बहती है और यह मैदान उसके दोनों तटों पर फैला हुआ है।

काश्मीर में जो प्राकृतिक दृश्य देखने में आते हैं वे संसार के अन्य किसी देश में दुर्लभ हैं। बरफ़ से ढके रहने वाले पर्वतों के साथ २ ऐसी पर्वत-मालाएं हैं जिन में भांति २ की वनस्पति उगती है और रंग रंग के फूल और फल लगते हैं।

इन फूलों और फलों की विचित्रता और वृक्षों की हरियाली ऊंची हिमाच्छन्न चोटियों से मिलकर एक अनुपम दृश्य उत्पन्न कर देती है। यहां का जलवायु बहुत स्वास्थ्यप्रद है । कभी यहां कड़ी धूप या कष्टदायक गरमी नहीं पड़ती । अक्तूबर से लेकर एप्रिल तक कड़ा जाड़ा पड़ता है। उन दिनों प्रायः झीलों तथा सरोवरों का पानी कुछ २ जम जाता है । यहां की हवा सजीव और स्वास्थ्यवर्धक है । वायु की स्वास्थ्य-वर्धिनी शक्ति ने, फूलों फलों और हरे पेड़ों की अधिकता ने, पर्वतों, नहरों, झरनों और झीलों की शोभा ने, मैदानों तथा घाटियों के दृश्यों ने इस प्रांत को स्वर्ग का आदर्श बना दिया है । प्रकृति ने जहां कारमीर के निवासियों को इतने उपहार दिये हैं वहां उन्हें वृष्टि का उपहार देने में अनुदारता दिखाई है । क्योंकि मौनसून के रास्ते में ऊंचे पहाड़ हैं और वे यहां तक कम पहुँच सकती हैं। यहां पर झीलें, नदियां और पहाड़ी सोते इतने अधिक हैं कि लोग साधारणतया वर्षा की कमी को अनुभव ही नहीं करते। इस प्रांत का जलवायु फलों और मेवों के लिए बहुत उपयोगी है। फलों में यहां सेब, नासपाती और अंगूर तथा मेवों में बादाम, अखरोट और पिस्ता आदि इतनी अधिकता से उत्पन्न होते हैं कि स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने के पश्चात् अन्य देशों को भेजे जाते हैं । जलवायु के प्रभाव से यहां के निवासी बहुत स्वस्थ, गोरे और सुन्दर होते हैं।

कारमीर का संक्षिप्त इतिहास

परम्परागत कथा प्रसिद्ध है कि किसी समय कारमीर के

मैदान के स्थान पर एक बड़ी भारी झील थी जिसका पानी निकाल देने से यह मैदान निकल आया। इतिहास में काश्मीर का उल्लेख अशोक के समय से मिलता है। अशोक ने इस सुन्दर प्रदेश में भी बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया था। काश्मीर का इतिहास एक रक्तरंजित इतिहास है, ऐसा इतिहास है जिसमें सैंकड़ों वर्षों की मारकाट और अशांति के पश्चात् कुछ समय सुख और शांति का आता है और तत्पश्चात् फिर वही अशांति फैल जाती है। कल्हण नाम के एक काश्मीरी विद्वान् ने 'राजतरंगिणी' नाम से काश्मीर का इतिहास लिखा है। भारतवर्ष में इतिहास-लेखन के प्रति सदा से उदासीनता रही है। संस्कृत में 'राजतरंगिणी' से अच्छी कोई इतिहास-पुस्तक नहीं है। ७०० ईस्वी के आसपास यहां ललितादित्य नाम का एक राजा हुआ, जिसके राज्य में काश्मीर ने सब प्रकार की उन्नति की परंतु उसके पश्चात् पुनः अशांति की दो शताब्दियां आईं। फिर एक राजा अवंतिवर्मा ने शांति स्थापित की। उस के वंश के कुछ राजाओं के पश्चात् पुनः अशांति का युग आया। चौदहवीं शताब्दी में यहां मुसलमानों का राज्य स्थापित हुआ। पंद्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में यहां जैनल आबुदैन नाम का मुसलमान राजा था। उस के राज्य में काश्मीर में शांति स्थापित हुई और सब प्रकार की उन्नति हुई। परंतु उसके बाद फिर अशांति युग आया जिसे मुग़ल सम्राट् अकबर ने समाप्त किया और काश्मीर को अपने राज्य में मिला लिया। अकबर के पश्चात् जहांगीर और

शाहजहाँ ने काश्मीर की ओर विशेष ध्यान दिया और यहां अनेक सुन्दर उद्यान तथा भवन बनवाए जिनमें से कई आज तक विद्यमान हैं। कहा जाता है कि मुग़ल सम्राटों ने काश्मीर में ७०० उद्यान लगवाए थे। मुग़ल राज्य के दुर्बल हो जाने पर यहां अफ़ग़ानों ने राज्य स्थापित किया जिस का अंत १८१९ ई० में महाराणा रणजीतसिंह ने किया। तत्पश्चात् अंग्रेजों ने इस प्रदेश को जीतकर जम्मू के शासक गुलाबसिंह के हाथ ७५ लाख रुपये में बेच दिया। तब से काश्मीर में डोगरा राजपूतों का राज्य चला आया है।

श्रीनगर

श्रीनगर काश्मीर की राजधानी है। यह नगर बहुत बड़ा और चित्ताकर्षक है। इस की सुन्दरता और मनोहरता में इस कारण और भी वृद्धि हो गई है कि जेहलम नदी ठीक नगर के बीच से बहती है और नदी के दोनों तटों पर विशाल भवन बने हैं। नदी के दोनों ओर के भागों को परस्पर मिलाने के लिए नदी पर कई पुल बने हैं। इन पुलों के अतिरिक्त दोनों तटों के बीच आवागमन के लिए डोंगियों का बहुत बड़ा प्रयोग होता है। पुल के लिए काश्मीरी भाषा का शब्द 'कदल' है। श्रीनगर के ये 'कदल' काश्मीर के पुराने शासकों तथा अधिकारियों के नामों पर हैं। वसंत ऋतु में नगर के मकानों की सुन्दरता में और भी विशेषता आ जाती है क्योंकि हर गली और बाजार में अंगूर और लाला की बेलें मकानों और दुकानों पर चढ़ा

दी जाती हैं। जिस समय इन लताओं में फूल आते हैं, सारा नगर नव वधू की भांति सज जाता है।

श्रीनगर के इन आंतरिक आकर्षणों के अतिरिक्त, इस के चारों ओर का दृश्य भी देखने योग्य है। यदि कोई व्यक्ति सुलेमान पर्वत की चोटी पर चढ़ जाए और वहां से नगर की ओर दृष्टिपात करे तो नगर के आसपास धान के खेतों और शाद्वलों को परस्पर मिला हुआ पाएगा और शतरंज के खानों का दृश्य दिखाई देगा। उन खेतों और शाद्वलों के बीच स्थान २ पर स्वच्छ जल के स्रोत हैं और ऐसा जान पड़ता है कि हरे रंग की चादरें सुनहली गोट लगा कर पृथ्वी पर बिछा दी गई हैं। इन खेतों से थोड़ी ही दूर आगे बड़ी २ झीलें हैं जिनके जल में पर्वतों के प्रतिबिम्ब पड़ने से दृश्य की मनोहरता और भी दुगनी हो जाती है।

काश्मीर के पुराने स्मारक

काश्मीर के पुराने चिन्हों में अधिकतर वहां के मन्दिर मस्जिद और अन्य पुरानी इमारतें हैं। इन्हें देखने से काश्मीर के पुराने इतिहास का पता चलता है। जो भवन मुग़ल सम्राटों के बनाए कहे जाते हैं, उनकी बनावट प्रायः यूनानी ढंग की है। सुलेमान पर्वत की चाटी पर एक पुराना मन्दिर है। इसका रास्ता पर्वत की चट्टानों को काटकर बनाया गया है और प्रायः बड़ा भयंकर और निर्जन है, परन्तु शताब्दियों से आवागमन प्रचलित रहने से अब इतना साधारण हो गया है कि भय जाता रहा है। जिस स्थान पर मन्दिर बना है वह काश्मीर के

तल से लगभग एक हज़ार फुट ऊंचा है। यह मन्दिर बहुत पुराना है। लोगों की धारणा है कि ललितादित्य के समय में भी यह मन्दिर विद्यमान था।

सब से प्रमुख स्थान, जिस से पुराने समय की सभ्यता और यहां के निवासियों के पुराने धार्मिक भावों का पता चलता है, मार्तंड मन्दिर का खंडहर है। यह मन्दिर एक हरे-भरे मैदान में बना हुआ था। इसके पीछे पहाड़ हैं जो वर्ष का अधिक भाग बरफ़ से ढके रहते हैं। मन्दिर के चारों ओर सुन्दर पेड़ और लताएं हैं जिनके नीचे स्वच्छ जल के स्रोत बहते हैं। यह मन्दिर लगभग ७५ फुट ऊंचा था-किन्तु इस समय केवल भग्नावशेष के रूप में है। यात्री इस मन्दिर को प्राचीनता का स्मारक समझ दूर दूर से देखने आते हैं। जिस समय यह मन्दिर अपने असली रूप में था, उस समय इस में एक बड़ा कमरा था जिस की लम्बाई २२० फुट और चौड़ाई १४२ फुट थी। इस कमरे की छत पत्थर काट कर बनाए गए गोल स्तम्भों पर आश्रित थी। कमरा तो अब गिर चुका है परन्तु कुछ स्तम्भ अभी तक खड़े हैं। इन प्राचीन चिन्हों की दुरवस्था का यह कारण है कि जिन विदेशी शासकों ने यहां आकर राज्य स्थापित किया उन्हों ने प्राचीन संस्कृति के चिन्हों की रक्षा के लिए कुछ नहीं किया। रक्षा करना तो दूर रहा, कुछ शासकों ने तो पुरानी इमारतों को जानबूझ कर नष्टभ्रष्ट करवा दिया। मुग़ल राज्य में यहां इतने भवन बने थे परन्तु अब उन में से बहुत थोड़े विद्यमान हैं। शेष सब नष्ट

हो गए या करवा दिए गए। यदि सब प्राचीन स्मारक आज अच्छी अवस्था में विद्यमान होते तो काश्मीर के इतिहास पर कितना प्रकाश डालते और यात्रियों के लिए कितने अधिक दर्शनीय होते।

वास्तव में मुग़लराज्य में काश्मीर ने बहुत उन्नति का समय देखा। मुग़ल सम्राट् जहांगीर और शाहजहां रसिक और कलाप्रिय थे। उन्होंने काश्मीर के सौंदर्य को पहचाना और उसका सम्मान किया। वे बहुधा यहां आते थे और काश्मीर के सौंदर्य का रस लेते थे। उन्होंने यहां जो कुछ बनाया था, उसमें से बहुत सा बाद में राज्य करने वाले अफ़ग़ानों ने तोड़ फोड़ डाला। संसार में एक निर्माण करने वाला होता है तो दूसरा विनाश करने वाला।

मंदिरों के अतिरिक्त काश्मीर में बहुत सी पुरानी मसजिदें हैं। शाहहम्दान की मसजिद बड़ी प्रसिद्ध है। इसकी सब दीवारें लकड़ी की हैं और इसमें लकड़ी के कामदार खम्भे लगे हुए हैं। छत अंदर से बहुत सुन्दर है और इसमें अनेक प्रकार की चित्रकारियां हैं। छत ऊपर से कच्ची है। बसंत ऋतु में छत पर रंग बिरंगे फूल उग आते हैं और सरदी में इस पर बरफ़ की तह जम जाती है। दोनों ऋतुओं में मसजिद बहुत सुन्दर जान पड़ती है। एक दूसरी मसजिद नूरजहां की बनवाई हुई है। यह पक्की और पत्थर की बनी हुई है और बहुत सुन्दर है।

कास्मीर का शिल्प

श्रीनगर में एक बड़ा अजायबघर है जिसमें प्राचीन शिल्प-कला के सजीव उदाहरण देखने को मिलते हैं। शीशे की अल्मारियों में पुराने समय के दुशाले और रेशमी थान रखे हुए हैं। उन्हीं शालों तथा रेशमी कपड़ों के कारण किसी समय कास्मीर का नाम दूर तक विख्यात हो गया था। शालों का व्यापार कास्मीर में प्रायः १४०० ई० से आरम्भ हुआ और बहुत देर तक यही कास्मीर का सब से बड़ा शिल्प रहा। यह शिल्प उन्नति की सीमा पर पहुंच गया। परंतु जब मैशीन का युग आरम्भ हुआ और मैशीन का माल सस्ता मिलने लगा तो संसार भर में हाथ का शिल्प नष्ट हो गया। कास्मीर का शिल्प भी मैशीन के माल के सामने टिक न सका। तो भी यह बिल्कुल नष्ट नहीं हुआ। अब भी उसका अपना विशेष सौंदर्य समझा जाता है। हां, समझने वाले कम रह गए हैं। इसके अतिरिक्त लकड़ी और कपड़े पर बेल बूटे काढ़ने का काम होता है। बारीक माल के ग्राहक साधारणतया वे लोग होते हैं जो बाहिर से भ्रमणार्थ आते हैं और कास्मीर से इन चीजों को तुहफ़े के रूप में ले जाते हैं। कास्मीर के पट्टू भी बहुत प्रसिद्ध हैं। ये शुद्ध ऊन के होते हैं और बहुत गरम होते हैं। कास्मीर में सोने चांदी और तांबे के बर्तनों पर नक्काशी का काम बहुत अच्छा होता है। कास्मीर के जौहरी और जड़िए बड़े निपुण होते हैं और उत्तम से उत्तम आभूषण तैयार करते हैं। कास्मीर के पहाड़ों में कई प्रकार के बहुमूल्य पत्थर नीलम और पन्ना

आदि पाए जाते हैं। संगमर्मर, अक़ीक और बिल्लौर आदि यारकंद से आते हैं। आजकल काश्मीर में क़ालीन बनाने और रेशम के व्यापार की बहुत उन्नति हुई है।

काश्मीर के पहाड़ और मैदान

काश्मीर में बड़े २ ऊंचे पहाड़ हैं। नांगा पर्वत की चोटी समुद्रतल से २७००० फुट ऊंची है और उस पर वर्ष भर बरफ़ जमी रहती है। यह चोटी दूर ही से दिखाई देती है। जब इस पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है तो यह दर्पण के समान चमकने लगती है। इस चोटी पर पहुंचने के लिए बहुत से विदेशी यात्रियों ने प्रयत्न किया है। कई यात्री जाकर लौट नहीं सके हैं। नांगा पर्वत का सब से अधिक सुन्दर दृश्य लोलाब के मैदान से दिखाई देता है। वहां से पहाड़ आरम्भ हो जाते हैं। और एक दूसरे से ऊंचे होते हुए नांगा तक पहुँच गए हैं। यों तो वे सब पहाड़ चौदह पंद्रह हज़ार फुट से अधिक ऊंचे हैं परन्तु नांगा पर्वत के सामने वे ऐसे नतमस्तक जान पड़ते हैं जैसे किसी राजा के सामने उसके कर्मचारी हों। लोलाब के मैदान से नांगा पर्वत का सुंदरतम दृश्य सूर्यास्त के समय होता है जब डूबते हुए सूर्य की तिरछी और रक्तवर्ण किरणें हिमाच्छादित पर्वतों पर पड़ती हैं। सायंकाल के उस समय वहां पर पेड़ों की हरियाली रंग-बिरंगे पुष्पों से मिलकर मन में विचित्र अवस्था उत्पन्न कर देती है। जिस समय पवन के तेज़ और शीतल झोंके उन पेड़ों में से होकर चलते हैं तो ऐसे जान पड़ता

है कि वनस्पति इस सौंदर्य-प्रदान से कृतज्ञ होकर परमात्मा का अभिवादन कर रहा है।

इस पर्वत के अतिरिक्त हरमुख पहाड़ का दृश्य भी बहुत चित्ताकर्षक है। यह पहाड़ ऊलर झील के किनारे पर है और सोलह हजार फुट ऊंचा है। यह भी नांगा पर्वत के समान बरफ़ से ढका रहता है। पूरे पहाड़ का प्रतिबिम्ब झील के स्वच्छ और शांत जल में पड़ता है। झील के सभी ओर हरियावल है। स्वच्छ पर्वत का जल में दिखाई दे रहा प्रतिबिम्ब इस हरियावल के कारण ऐसे मालूम होता है जैसे किसी श्वेतवर्ण, हरितवसना सुन्दरी का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ रहा हो।

काहाला पर्वत अन्य पर्वतों से भिन्न है। इसकी चोटी सूई की नोक की तरह नुकीली होती चली गई है। आला-पत्थर भी एक प्रसिद्ध पर्वत है। यह सोलह हजार फुट ऊंचा है। गुलमर्ग नगर इसी पर्वत की गोद में बसा है।

इन सब पर्वतों की गोद में अनेक नदियां, झीलें और घास से ढके मैदान हैं जो इनकी सुन्दरता को अधिकाधिक बढ़ाते हैं। इन मैदानों में मीलों तक हरि २ घास उगी है और उसमें रंग रंग के फूल खिले हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों एक विशाल हरे रंग की ईरानी क़ालीन बिछी है। श्रीनगर के पास का एक विशाल मैदान बहुत प्रसिद्ध है। इसके चारों ओर सनोवर के वृक्षों की चित्ताकर्षक दीवार है। इन पेड़ों के बीच में से हरमुखादि पहाड़ों की बरफ़ से ढकी चोटियां भी दिखाई देती

हैं। इसी प्रकार का एक दूसरा मैदान सोनमर्ग के नाम से विख्यात है। इसका दृश्य भी बहुत आकर्षक है। यहां लोग प्रायः चांदनी रात में शामियाना लगा कर रहते हैं। इस मैदान के पीछे एक जंगल है और तत्पश्चात् पर्वतों की हिमाच्छादित चोटियां। पास ही एक नदी बहती है। इन दोनों मैदानों से अधिक लोकप्रिय गुलमर्ग का मैदान है। जलवायु के लिए यह अन्य मैदानों से बढ़ कर है। इसकी सर्वप्रियता प्रतिदिन बढ़ती जाती है।

काश्मीर का जल-जीवन

कुछ समय से काश्मीर में हाऊसबोट का बहुत प्रचार हो गया है। इसके आरम्भ करने वाले एक अंग्रेज थे। इस समय तो स्थान २ पर हाऊसबोट मिलते हैं और लोग उन्हें किराए पर लेकर जल-जीवन का आनंद लेते हैं। दिन भर ये हाऊस-बोट जहां चाहें ले जाए जाते हैं परन्तु रात को तट पर बांध दिये जाते हैं। इन हाऊसबोटों में घर के समान सुखपूर्वक रह सकते हैं। जल-जीवन काश्मीर की विशेषता है। जल ही में सारे श्रीनगर की सैर की जा सकती है क्योंकि जेहलम दरिया नगर के बीच में से बहता है और बहुत सी नहरें नगर के सभी भागों में ले जाई गई हैं। हाऊसबोट के साथ एक छोटी नाव 'शिकारा' नाम की होती है। जहां पर पानी कम होने से हाऊसबोट नहीं पहुँच सकता वहां शिकारा जा सकता है। श्रीनगर से कुछ अंतर पर ऊपर-जेहलम के तट पर इस्लामाबाद है। वहां तक जल-मार्ग से जा सकते हैं। यह यात्रा बहुत सुन्दर और चित्ताकर्षक

है। श्रीनगर से चलकर सब से पहला पड़ाव पिंडोचक आता है जो केसर की खेती के लिए प्रसिद्ध है। इस यात्रा में जेहलम के तट पर बहुत सी बस्तियों में से गुज़र कर इस्लामाबाद पहुंचते हैं। एक से एक बढ़ कर सुन्दर स्थानों के दर्शन होते हैं।

झीलें और बाग़

काश्मीर की सभी प्रमुख झीलें श्रीनगर के आसपास हैं। सब से प्रसिद्ध डल की झील है। यह झील बहुत विशाल है। इस का पानी इतना स्वच्छ है कि आसपास के पर्वतों का सुन्दर प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। झील के बीच में छोटे २ हरे-भरे टापू हैं जिनमें बाग़ लगे हुए हैं। झील के किनारे कई गांव बसे हुए हैं। श्रीनगर के जितने प्रसिद्ध उद्यान हैं प्राय: सभी इसी झील के किनारे पर हैं। डल की झील में सब से अधिक अद्‌भुत चीज़ वहां के तैरते हुए उद्यान हैं। लोग घास और सेवार काट कर पानी में दूर तक फैला देते हैं और उनको बांध कर ऊपर खाद डाल देते हैं। इनके ऊपर सब्जियों की खेती होती है। ये बाग़ीचे पानी में तैरते रहते हैं।

दूसरी प्रसिद्ध झील मानसबल है। यह भी श्रीनगर से थोड़ी ही दूर है। इसके किनारे पर पुराने समय का एक उद्यान है। इन के अतिरिक्त ऊलर और गंदरबल झीलें हैं।

श्रीनगर के आसपास उद्यानों की भी बहुत अधिकता है जिनमें सब से प्रसिद्ध शालामार बाग़ है। इसे जहांगीर ने बनवाया था। यह बाग़ीचा कोई ६०० गज लम्बा और २७०

गज़ चौड़ा है। एक नहर के रास्ते बाग़ीचे में पहुँचते हैं। नहर के किनारों पर चनार और बेल के छायादार पेड़ लगे हैं। सूर्य की किरणें पेड़ों में से छन २ कर पानी पर पड़ती हैं। रास्ते भर फूलों की सुगंध से मन मुग्ध होता रहता है। एक दूसरा बाग़ीचा निशात बाग़ अपने फूलों की सुन्दरता और विचित्रता के लिए प्रसिद्ध है। एक और प्रसिद्ध बाग़ीचा 'नसीम बाग़' है। वास्तव में इन बाग़ीचों का सम्बंध देखने ही से है। इनका वर्णन करने का, और फिर संक्षेप से वर्णन करने का प्रयत्न इन के प्रति अन्याय है। इन उद्यानों को देखने से ज्ञात होता है कि मुग़ल सम्राटों को प्राकृतिक सौंदर्य से कितना प्रेम था।

काश्मीर-भूमि विधाता की सौंदर्य-निर्माण-कला की पराकाष्ठा है। प्रकृति-सुन्दरी का यह क्रीड़ा-कानन है। भारत-माता का यह हीरक जटित मुकुट है। इस विश्व-प्रसिद्ध शोभास्थल की किस २ चीज़ का वर्णन किया जाय और वर्णन वास्तविकता को पहुँच भी कैसे सकता है? इस स्वर्गीय सौंदर्य के योग्य विधाता ने भारत ही को चुना।

गोस्वामी तुलसीदास

भारत के साहित्याकाश पर आज तक असंख्य देदीप्यमान नक्षत्रों का उदय हो चुका है। इतिहास के अरुणोदय काल से आज तक कितने ही साहित्य-शूर भारतीय भावनाओं के समरांगण में अपने जौहर दिखा चुके हैं। वैदिक साहित्य का तो अपना एक विशेष पृथक् स्थान है। तत्पश्चात् हम प्राचीन इतिहास के धुंदले प्रकाश में वाल्मीकि को क्रौंच-मिथुन की व्यथा से प्रेरित होकर एक नूतन छंद का आविष्कार करते और किसी दिव्य वाणी के प्रोत्साहन से राम के पवित्र चरित को छंदोबद्ध करते देखते हैं। फिर वेदव्यास कृष्ण भगवान् की महिमा गान करने और कौरव-पाण्डवीय संग्राम को वर्णन करने के निमित्त संसार भर के ज्ञान-भांडार को एकत्र करते पाये जाते हैं। वैदिक तथा आर्ष साहित्य के पश्चात् संस्कृत साहित्य का समय आता है और हमें भास, कालिदास, अश्वघोष, बाणभट्ट, भवभूति आदि अनेक प्रतिभासंपन्न उच्चकोटि के साहित्य निर्माताओं के दर्शन होते हैं। संस्कृत-साहित्य-रचना की यह धारा यद्यपि क्षीण रूप में रही तथापि आधुनिक काल तक बहती चली आई है।

संस्कृत शिष्ट-समाज की, विद्वत्-समाज की भाषा थी। वह एक परिमार्जित भाषा थी और व्याकरण के नियमों में जकड़ी हुई भाषा थी। व्याकरण के बंधनों ने एक ओर तो संस्कृत को

देश-कालातीत राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक भाषा बना दिया परन्तु दूसरी ओर उसके विकास को रोक दिया। यदि संस्कृत विद्वज्जनों की भाषा के रूप में प्रचलित थी तो जनता की भाषा भी देश तथा काल के अनुसार भिन्न २ रूप धारण करती हुई चली आ रही थी। यदि संस्कृत एक नाप २ कर बनाई हुई नहर के समान थी तो साधारण जनता की भाषा एक टेढ़ी-मेढ़ी, कई धाराओं में बहती हुई नदी के समान थी। जनता की इस भाषा को प्राकृत नाम दिया गया। देश के भिन्न २ भागों में प्राकृत के भिन्न भिन्न रूप थे और ये रूप काल-परिवर्तन के साथ २ परिवर्तित हो रहे थे। इन्हीं प्राकृतों से विकसित होकर हमारी आधुनिक भाषाएं निर्मित हुईं जिनमें से एक हिन्दी भी है।

वैसे तो हिंदी भाषा का आरम्भ बहुत पहले से हो चुका था परन्तु सोलहवीं शताब्दी के आस-पास हमें हिंदी के दो विशेष साहित्यिक रूप मिलते हैं। एक ब्रजभाषा या पश्चिमी हिंदी और दूसरी अवधी या पूर्वी हिंदी। हिंदी के महाकवियों ने एक-एक से बढ़कर इन दोनों शाखाओं को अपनी वाणी से गर्वान्वित किया है। ब्रजभाषा को गौरव प्रदान करने वालों में यदि प्रथम स्थान महात्मा सूरदास का है तो अवधी को अमर बनाने वालों में सर्वोच्च स्थान गोस्वामी तुलसीदास का है (परमसंत कबीर का अपना एक अलग विशेष स्थान है)।

हिंदी-साहित्य का जन्म रणदुंदुभि के कोलाहल में हुआ। भारत विदेशी आक्रमणकारियों से पदाक्रांत हो रहा था। देश

में कोई केंद्रीय राज्य-सत्ता न थी जो आने वालों को मुँह-तोड़ जवाब दे सकती। राजपूती वीरता आक्रमणकारियों की बाढ़ को रोकने के लिए शक्ति भर प्रयत्न कर रही थी। कवि लोग भी इस राष्ट्रीय प्रयत्न में हाथ बटा रहे थे। यदि वीर योद्धा अपनी जान हथेली पर रखकर रणक्षेत्र की ओर बढ़ रहे थे तो कविजन अपनी ओजस्विनी भाषा में उनके उत्साह को दुगना करते हुए साथ २ चल रहे थे। पृथ्वीराजरासौ उसी वीर-गाथा-काल की उपज है।

पश्चिम से आनेवाले उन आक्रमणकारियों के विरुद्ध भारत का प्रयत्न असफल रहा। विदेशी राज्य स्थापित हुआ और पराधीनता की लम्बी काल-रात्रि का आरम्भ हो गया। परतन्त्रता के उस काल में वीरता के गान किस मुँह से गाए जाते? देश नत-मस्तक था। जब मनुष्य का बल काम नहीं आता, जब मानवी प्रयत्न पराजित होकर रह जाता है, जब सब ओर निराशा का वातावरण होता है तब अशरण-शरण भगवान् की ओर ध्यान आकर्षित होता है।

नहिं विद्या नहिं बाहुबल, नहीं गांठ में दाम।
तुलसी मो से पतित की पत राखो श्री राम॥

गोस्वामी तुलसीदास के इसी दोहे के भाव के अनुसार भारत अपनी निस्सहाय अवस्था में भगवान् को पुकारने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं देख पाता था। भारत की अंतरात्मा में भक्ति भाव का उद्भव हुआ और वह भक्ति-भाव भिन्न २

धाराओं में प्रवाहित हुआ जन-गण-मन को प्रेमामृत से आप्लावित करने लगा। कहीं निर्गुणोपासना की धारा थी तो कहीं सगुणोपासना की। कहीं राम-भक्ति की सरिता बह रही थी तो कहीं कृष्ण-भक्ति की। गोस्वामी तुलसीदास ही राम-भक्ति सुर-सरिता को बहाने वाले भगीरथ थे। प्राचीन काल में आदि-कवि वाल्मीकि ने भी रामचरित-गान किया था परन्तु वह प्राचीन आर्ष भाषा में था और जनसाधारण की पहुँच से बाहर था। वह तो कुएँ का जल था, स्वच्छ और स्वादिष्ट होता हुआ भी, पृथ्वी के गर्भ में दूर निहित था। तुलसीदास ने जल की सरिता बहा दी ताकि सब लोग झटपट पान करके अपने संतप्त हृदयों को शांत कर सकें। दूसरे वाल्मीकि के राम भारत के एक वीर राजकुमार थे, भारतीय संस्कृति-वृक्ष के एक मनोहर फूल, भारतीय आदर्शों के प्रतीक और सर्वमाननीय गुणों के आगार होते हुए भी केवल पुरुषोत्तम थे। भगवान के साक्षात् अवतार नहीं थे और जनता का हृदय क्रंदन कर रहा था भगवान् के साक्षात् अवतार के लिए। भारत के सुख-समृद्धि काल में वाल्मीकि के राम जनसाधारण के हृदयों को संतुष्ट कर सकते थे। स्वतंत्रता के युग में राष्ट्र के वीर नेता, दक्षिण के विजेता तथा भारतीय संस्कृति के प्रचारक राम के चरित का माहात्म्य उचित ही था परन्तु परतंत्रता के युग में भारतीय नेता की दिग्विजय के यशोगान सुनने के लिए जनसाधारण की अभिलाषा मंद पड़ चुकी थी और जनता के निराशाभिभूत हृदय में भगवान् की शक्तियों को लेकर अवतीर्ण हुए, 'साधूनां परित्राणाय' और 'दुष्कृतां

विनाशाय' उत्पन्न हुए, और भक्तों को भक्तिदान देने के लिए पैदा हुए, राम के चरित को सुनने के लिए उत्सुकता थी। उसी राम का चरित गोस्वामी तुलसीदास ने जनता के हृदय के संतोष के लिए और स्वान्तःसुखाय गान किया।

जीवन-वृत्तांत

भारत के अन्य पुराने साहित्य-महारथियों के समान गोस्वामी तुलसीदास के जीवन का बहुत थोड़ा ज्ञान उपलब्ध है। भारतवर्ष ने सदा ही इतिहास के प्रति उपेक्षा वृत्ति दिखाई है। देश के बड़े २ सम्राटों तथा विजेताओं तक की महत्त्वपूर्ण जीवनियों को विस्मृति के सागर में निमग्न हो जाने दिया है। भारत ने अपने इतिहास में यदि रक्षा की है तो विचारों की तथा मानसिक और आध्यात्मिक कृतियों की। उन्हीं राजाओं महाराजाओं की स्मृतियां सुरक्षित रखी गई हैं जिन्होंने देश के सांस्कृतिक विकास में कुछ भाग लिया है और उनकी जीवन-घटनाएँ भी इतिहासरूप में नहीं प्रत्युत कल्पना और कला के द्वारा नए रूप में हम तक पहुँचती हैं। साहित्य-महारथियों की रचनाओं मात्र की रक्षा को पर्याप्त समझा गया है। रचयिताओं की जीवन-घटनाओं को विस्मृत हो जाने दिया गया है। भारत की दृष्टि में स्थायी मूल्य तो विचारों तथा भावों का है, अस्थिचर्म निर्मित शरीर का क्या स्थायी मूल्य है? किसी प्रतिभाशाली साहित्यिक ने क्या लिखा, यह तो सदा के लिए काम की वस्तु है; वह कहां उत्पन्न हुआ, कब हुआ, कब उसकी मृत्यु हुई, आदि प्रश्नों से क्या

लाभ; ऐसी भारत की धारणा रही है। इसीलिए आज तक निश्चित रूप से यह भी निर्णय नहीं हो सका है कि कालिदास और भास जैसी साहित्यिक विभूतियों का समय और स्थान कौन सा था। गोस्वामी तुलसीदास यद्यपि अपेक्षया अर्वाचीन हैं, तीन ही शताब्दियां पुराने हैं तथापि उनकी जीवन-घटनाओं के बारे में ज्ञान होना तो दूसरी बात है, उनकी जन्म-तिथि तथा जन्म-स्थान के सम्बन्ध में अभी तक एक मत नहीं है। कदाचित् भारत के साहित्यिकों में भी आने वाली पीढ़ियों पर अपनी जीवन-घटनाओं के स्मृति-भार को लादने का मोह नहीं था। यदि किसी को अमर रहने की इच्छा थी तो अपनी कृतियों के बल-बूते पर।

गोस्वामी तुलसीदास की जन्म-तिथि सोलहवीं शताब्दी ई० के प्रायः मध्यकाल में निश्चित हुई है और मृत्यु-तिथि १६२३ ई० मानी जाती है। जन्मस्थान के बारे में भी अभी तक ऐकमत्य नहीं है। जैसे भारत के अन्य महापुरुषों के सम्बन्ध में ऐसे ही गोस्वामीजी के सम्बन्ध में बहुत सी दंतकथाएं जन-साधारण में प्रचलित हैं। जन्म होते ही उनका माता-पिता के द्वारा परित्यक्त होना, धर्मपत्नी के प्रति उनका बहुत अधिक प्रेम होना, धर्मपत्नी के विरह को न सहन करके अपनी जान पर खेल कर उसके पास पहुँच जाना और पत्नी द्वारा ईश्वर-भक्ति का मार्ग-संकेत किया जाना आदि ऐसी बातें हैं जो सर्वसाधारण के द्वारा मानी और कही जाती हुई भी बहुत ऐतिहासिक मूल्य नहीं रखती हैं। गोस्वामी के जीवन से सम्बन्ध रखने वाला सब से बड़ा ऐतिहासिक

सत्य तो यही है कि उन्होंने देश की राजनीतिक अवनति और सांस्कृतिक गिरावट के समय जन्म लेकर अपनी अमृत-वाणी से अवनत को उन्नत तथा पतित को उत्थापित करने की अपनी योग्यता सिद्ध की। हमने यहां जानबूझ कर 'प्रयत्न किया' शब्दों का प्रयोग नहीं किया क्योंकि तुलसीदास ने जो कुछ किया स्वान्तः-सुखाय किया। यह दूसरी बात है कि उनका आत्म-परितोष के लिए किया गया कार्य देश और जाति के अवलंबन तथा उत्थान का कारण बन गया। ईश्वरीय प्रेरणा ने उनके द्वारा आविर्भूत हो कर देश का कल्याण किया। वह तो साधनमात्र थे। उन्होंने न तो देश की अधोगति के कारणों पर व्याख्यान दिए, न उन्नति के साधनों का उपदेश दिया, न वे देश में सम्मेलन तथा सभाएं करने के लिए दौड़ते फिरे और न उन्होंने शास्त्रार्थों द्वारा दिग्विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने तो शांत तथा भक्ति निमग्न जीवन व्यतीत करते हुए, अपने हृदय-मंदिर में स्थापित भगवान् राम का गुणगान किया। उस गुणगान से निराश जनता को आशावलम्ब मिल गया। आशा-रश्मि दिखाई दे गई, निराश्रय जन-समुदाय को आश्रय मिल गया और देश के लिए कल्याण मार्ग खुल गया; यह दूसरी बात थी। ऐसे अनासक्त महात्मा को क्या पड़ी थी कि अपने जीवन की घटनाओं को लिखते फिरें? जिनको रुचि हो खोज करते रहें और उनके जीवन के बारे में जो कुछ चाहें निश्चित करते रहें।

गोस्वामी तुलसीदास की कृतियां

वैसे तो न जाने कितने ग्रंथ तुलसीदास रचित कहे जाते हैं

क्योंकि बहुत से लेखकों ने अपने ग्रंथों को भी प्रसिद्ध करने के लिए उन्हीं के नाम से प्रचारित कर दिया है तो भी कुछ ग्रंथों के बारे में हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि यह वास्तव में उन्हीं के हैं और इनमें सबसे मुख्य हैं 'रामचरित-मानस' और 'विनय-पत्रिका'। तुलसीदास के कहे जाने वाले अन्य ग्रंथों में से बहुत से भिन्न २ छंदों में रामायण ही है। उनके ग्रंथों में जो ख्याति रामचरित-मानस तथा विनय-पत्रिका ने पाई है वह उन के अन्य किसी ग्रंथ को प्राप्त नहीं हुई। विनय-पत्रिका में प्रार्थना के भजन हैं जो राम को सम्बोधित किए गए हैं। अपने ढंग की यह एक अद्‌भुत पुस्तक है। तुलसीदास ने अपने हृदय के भक्ति-भाव को एक २ पद्य में उंडेल दिया है। "आप पतित पावन हैं, आपने उन २ पतितों को अपनाया है, मैं भी तो उनसे कम पतित नहीं हूँ। मुझे ही क्यों भुला दिया है," इसी भाव को नए से नए हृदयद्रावक शब्दों में कहा है। कहीं भक्त-वत्सल राम को प्रेरित करने के लिए कहा है, 'कदाचित तुम औरों का उद्धार करके अपने को सफल समझते हो। जब मुझ पतित का उद्धार करोगे, तब अपनी शक्ति का अनुमान कर सकोगे!' 'विनयपत्रिका' ऐसे ऐसे भक्तिसने पद्यों से ओत-प्रोत है।

रामचरित-मानस

गोस्वामी तुलसीदास का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ तो निर्विवाद रूप से 'रामचरित-मानस' ही है। तुलसीदास के रचना-आकाश में 'रामचरित-मानस' सूर्य के समान है और उनकी ख्याति का

कारण है। जनसाधारण में यह ग्रंथ 'तुलसी कृत रामायण' या तुलसी रामायण के नाम से प्रसिद्ध है। केवल 'रामायण' शब्द भी रामचरित-मानस ही का द्योतक हो गया है। भारत में इस पुनीत ग्रंथ की कथा घर २ सुनाई देती है। गिरि-सम्राट् हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक, कच्छ की खाड़ी से लेकर भारत की अंतिम पूर्वीय सीमा तक इस पुस्तक का सम्मान है। भारत की लगभग सभी भाषाओं में तो इस का अनुवाद हुआ ही, भारत के बाहिर की कई भाषाएं भी इसके अनुवाद से अलंकृत हैं। अंग्रेजी में तो गद्य और पद्य दोनों रूपों में इसके सुन्दर अनुवाद हो चुके हैं। रामायण काव्य की जितनी प्रशंसा की जाए, कम है। भाव-गम्भीरता, आध्यात्मिक तत्वों की सरल और सुगम विवेचना, दार्शनिक विद्वत्ता, धार्मिक और नैतिक उपदेशों की उत्कृष्टता, लेखन-शक्ति का चमत्कार, चरित्र-चित्रण की अपूर्व शक्ति. प्राकृतिक दृश्य-वर्णन की अनुपम योग्यता, कहां तक कहें, एक आदर्श काव्य में जो २ गुण होने चाहिएं वे सब इस पुस्तक में विद्यमान हैं। तभी तो इसका चारों ओर प्रचार है और इसकी लाखों और करोड़ों प्रतियां बिक चुकी और बिक रही हैं। भारत में जितने हिंदी प्रेस हैं लगभग उतने ही इस पुस्तक के संस्करण हैं।

रामायण की कथा क्या है, इसके बताने की आवश्यकता नहीं है। भारतवर्ष के आबाल वृद्ध नर नारी सब रामायण की मुख्य २ बातों से परिचित हैं। राम, सीता, भरत, लक्ष्मण, हनुमान् आदि रामायण के पात्रों के नाम सभी जानते हैं। भारत

भर में कोई नगर या ग्राम ऐसा न होगा जिसमें या जिसके सान्निध्य में वर्ष में एक बार रामलीला न होती हो। रामायण के पात्र बड़ी उच्च श्रेणी के हैं। वास्तव में वे भारतीय उच्चादर्शों के प्रतीक हैं। भूमंडल के साहित्य में सीता के चरित्र के समान पुनीत चरित्र किसी महिला का न मिलेगा। भरत और लक्ष्मण के आदर्श भ्रातृभाव के द्योतक चरित्र अद्वितीय हैं। राम तो ग्रंथ के नायक ही हैं। ऐसा ओजस्वी, प्रतिभाशाली, सदाचारी एवं उदार नायक संसार के किसी ग्रंथ में न होगा।

'रामचरित-मानस' का आधार वाल्मीकि कृत रामायण तथा अध्यात्म रामायण हैं परन्तु गोस्वामी जी ने ऐसे परिवर्तन किए हैं जिनके बिना उनके राम-भक्ति से आप्लावित हृदय को संतोष नहीं हो सकता था। 'रामचरित-मानस' में कुल सात कांड हैं और प्रत्येक कांड कई सर्गों में विभक्त हैं। पहले कांड में बहुत सी गाथाओं का वर्णन है जिन का सम्बन्ध विष्णु भगवान् के रामरूप में अवतार लेने के साथ है। ऐसे ही उत्तरकांड में राम-भक्ति सम्बन्धी कई स्थल हैं। वैसे सारी कथा राम-भक्ति के रंग में सनी हुई है। स्थान २ पर पाठक तथा श्रोता को स्मरण करवा दिया जाता है कि वह कोई कहानी पढ़ या सुन नहीं रहा प्रत्युत स्वयं भगवान् के भक्तिरसामृत का पान कर रहा है।

रामचरित-मानस की उपयोगिता और सर्वप्रियता

भारत में कदाचित् श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ही और संसार में कदाचित् बाईबल ही ऐसे ग्रंथ हैं जो लोकप्रियता में रामचरित

मानस के साथ तुलना में आ सकते हैं। संसार के इन्हीं तीन ग्रंथों का सबसे अधिक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। यद्यपि भगवद्‌गीता तथा रामचरितमानस दोनों भारत के जीवन में ओतप्रोत हैं तथापि भगवद्‌गीता की पहुँच जनसाधारण तक अपठित स्त्री और बच्चों तक न होकर पठित तथा विकसित-बुद्धि जन-समुदाय तक है और रामचरित-मानस तो देश के हृदय के साथ घुलमिल कर एक हो गया है। धुरंधर विद्वान, तर्क-शिरोमणि, दार्शनिक और विद्यावारिधि पंडित भी राम-चरित-मानस पर मुग्ध दिखाई देंगे और जड़बुद्धि ग्रामीण तथा अल्पज्ञ वृद्धजन भी अशुद्ध उच्चारण के साथ राम-चरित-पीयूष को पान कर कृतकृत्य होते मिलेंगे। रामचरित-मानस की ऐसी सर्वप्रियता और उपयोगिता के कारण हैं।

प्रथमतः रामचरित-मानस अपने समय की प्रचलित भाषा में लिखा गया और वह भाषा उत्तरीय भारत की आधुनिक भाषाओं से बहुत भिन्न नहीं है। अढ़ाई तीन सौ वर्ष में उत्तरीय भारत की भाषाओं में इतना अधिक अंतर नहीं आया है कि रामचरित्त-मानस का समझना कष्टसाध्य हो गया होता। तुलसीदास ने या तो संस्कृत शब्दों के तत्सम प्रयोगों को छोड़ कर तद्भव प्रयोग रखे हैं और या जहां तत्सम शब्दों का प्रयोग किया भी है, वे शब्द नितांत सुगम, लघु और सुपरिचित हैं। उनके प्रयुक्त किए बड़े २ समासों के अर्थ भी बड़ी सुगमता से स्वयमेव अवगत हो जाते हैं।

दूसरे रामचरित-मानस का विषय-क्षेत्र इतना विशाल है

कि इसके अध्ययन से मानव जीवन के बहुत से अंगों की पुष्टि होती है और अनेक मानसिक भावनाओं को संतोष और शांति की प्राप्ति होती है। इस ग्रंथ में समाजनीति, धर्मनीति, पारिवारिकनीति, अर्थनीति, ऐहिक और पारलौकिक तत्व, वर्णाश्रम-धर्म का सारांश आदि सब कुछ है। यह सब कुछ ऐसे मधुर रस से आप्लावित किया गया है कि उपदेश ने शुद्ध साहित्य का रूप धारण कर लिया है। मानव-हृदय में धर्म की पिपासा तो है परन्तु जब धर्म कला का साहचर्य प्राप्त कर लेता है तब उसमें सरसता आ जाती है और रामचरित-मानस का धर्मोपदेश तो कलारूप हो गया है।

तीसरे राम और सीता की कथा तो भारतीय हृदय में शताब्दियों से अपना स्थान बना चुकी है। यह तो वह कथा है जिसे सुन कर और बार २ सुन कर भारतीय हृदय ऊबता नहीं है। टूटे फूटे शब्दों में भी सुनाई गई यह कथा भारत की हृत्तंत्री को झंकृत किए बिना नहीं रहती और फिर रामचरित-मानस में तो यह कवि-शिरोमणि तुलसीदास की कला विभूषित भाषा में वर्णित है।

इसके अतिरिक्त तुलसीदास ने अपनी कविता के लिए जो छंद चुने हैं, अपने काव्यामृत को वितरण करने के लिए जो सुन्दर चषक प्रयुक्त किए हैं, उनका अपना अपूर्व आकर्षण है। कदाचित् चौपाई और दोहे के अतिरिक्त किन्हीं दूसरे छंदों में रामचरित-मानस की सर्वप्रियता कुछ कम हो जाती।

रामचरित-मानस में आदि से अंत तक एक अपूर्व सजीवता पाई जाती है। काक के मुख से गरुड़, शिव के मुख से पार्वती और तुलसीदास के मुख से जनता कथा सुन रही है और सभी घटनाएं मानो मानस-चक्षुओं के आगे घटित हो रही हैं। कथा की स्वच्छ सरिता पाठकगण तथा श्रोतागण को आत्म-विस्मृति की अवस्था में अपने साथ बहाए लिए जाती है।

इन गुणों से विभूषित होने के कारण ही रामचरित-मानस ऐसा सर्वप्रिय तथा उपयोगी ग्रंथ सिद्ध हुआ है।

तुलसीदास का चरित्र-चित्रण

साधारण हिंदू जनता रामचरित-मानस को एक साहित्य-ग्रंथ की दृष्टि से नहीं देखती और उसके हृदय में यह आभास नहीं होता कि जिन चरित्रों का वर्णन किया जा रहा है वे अपने अस्तित्व के लिए कवि-कल्पना के आभारी हैं प्रत्युत उसकी यही धारणा होती है कि यह सब ऐतिहासिक सत्य है और कि कवि केवल अपनी भाषा का परिधान पहना कर उस सत्य को प्रस्तुत कर रहा है। अतः यह कहना कि राम, सीता, लक्ष्मण अथवा भरत का चरित्र कवि ने अच्छा चित्रित किया है, इस बात का द्योतक है कि ये सब व्यक्ति उपन्यास के चरित्रों की भांति कल्पित हैं, और या इन ऐतिहासिक चरित्रों को कवि ने अपनी कल्पना से परिवर्तित कर दिया है। कुछ भी हो चरित्रों की सजीवता अपूर्व है। राम के एक दिव्य गुण सम्पन्न महापुरुष होते हुए भी उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा के साथ २ निगूढ़रूप से एक मित्रता

कि इसके अध्ययन से मानव जीवन के बहुत से अंगों की पुष्टि होती है और अनेक मानसिक भावनाओं को संतोष और शांति की प्राप्ति होती है। इस ग्रंथ में समाजनीति, धर्मनीति, पारिवारिकनीति, अर्थनीति, ऐहिक और पारलौकिक तत्व, वर्णाश्रम-धर्म का सारांश आदि सब कुछ है। यह सब कुछ ऐसे मधुर रस से आप्लावित किया गया है कि उपदेश ने शुद्ध साहित्य का रूप धारण कर लिया है। मानव-हृदय में धर्म की पिपासा तो है परन्तु जब धर्म कला का साहचर्य प्राप्त कर लेता है तब उसमें सरसता आ जाती है और रामचरित-मानस का धर्मोपदेश तो कलारूप हो गया है।

तीसरे राम और सीता की कथा तो भारतीय हृदय में शताब्दियों से अपना स्थान बना चुकी है। यह तो वह कथा है जिसे सुन कर और बार २ सुन कर भारतीय हृदय ऊबता नहीं है। टूटे फूटे शब्दों में भी सुनाई गई यह कथा भारत की हृत्तंत्री को झंकृत किए बिना नहीं रहती और फिर रामचरित-मानस में तो यह कवि-शिरोमणि तुलसीदास की कला विभूषित भाषा में वर्णित है।

इसके अतिरिक्त तुलसीदास ने अपनी कविता के लिए जो छंद चुने हैं, अपने काव्यामृत को वितरण करने के लिए जो सुन्दर चषक प्रयुक्त किए हैं, उनका अपना अपूर्व आकर्षण है। कदाचित् चौपाई और दोहे के अतिरिक्त किन्हीं दूसरे छंदों में रामचरित-मानस की सर्वप्रियता कुछ कम हो जाती।

रामचरित-मानस में आदि से अंत तक एक अपूर्व सजीवता पाई जाती है। काक के मुख से गरुड़, शिव के मुख से पार्वती और तुलसीदास के मुख से जनता कथा सुन रही है और सभी घटनाएं मानो मानस-चक्षुओं के आगे घटित हो रही हैं। कथा की स्वच्छ सरिता पाठकगण तथा श्रोतागण को आत्म-विस्मृति की अवस्था में अपने साथ बहाए लिए जाती है।

इन गुणों से विभूषित होने के कारण ही रामचरित-मानस ऐसा सर्वप्रिय तथा उपयोगी ग्रंथ सिद्ध हुआ है।

तुलसीदास का चरित्र-चित्रण

साधारण हिंदु जनता रामचरित-मानस को एक साहित्य-ग्रंथ की दृष्टि से नहीं देखती और उसके हृदय में यह आभास नहीं होता कि जिन चरित्रों का वर्णन किया जा रहा है वे अपने अस्तित्व के लिए कवि-कल्पना के आभारी हैं प्रत्युत उसकी यही धारणा होती है कि यह सब ऐतिहासिक सत्य है और कि कवि केवल अपनी भाषा का परिधान पहना कर उस सत्य को प्रस्तुत कर रहा है। अतः यह कहना कि राम, सीता, लक्ष्मण अथवा भरत का चरित्र कवि ने अच्छा चित्रित किया है, इस बात का द्योतक है कि ये सब व्यक्ति उपन्यास के चरित्रों की भांति कल्पित हैं, और या इन ऐतिहासिक चरित्रों को कवि ने अपनी कल्पना से परिवर्तित कर दिया है। कुछ भी हो चरित्रों की सजीवता अपूर्व है। राम के एक दिव्य गुण सम्पन्न महापुरुष होते हुए भी उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा के साथ २ निगूढ़रूप से एक मित्रता

का भाव भी बना रहता है। राम के मानव-समाचरण पर मुग्ध हो कर हम उनकी दिव्य-गुण-सम्पन्नता को भूल जाते हैं। कौशल्या तथा दशरथ का वात्सल्य, भरत तथा लक्ष्मण का भ्रातृत्व, सीता का सतीत्व और हनुमान् का दासत्व, सभी कुछ अपूर्व और अद्भुत होते हुए भी सजीव तथा मानवीय है।

तुलसीदास के कविताविषयक सिद्धांत

तुलसीदास भक्त पहले थे और कवि पीछे। वे मानों भक्ति-सुर-सरिता में बड़े आनंद से बहे जा रहे हैं और संसार के लोगों को संतप्त तथा दुखी देख कर उनकी ओर कविता के रूप में शीतल जल के छींटे उछालते जाते हैं। उनका ध्येय कवि बनना या कवि कहलाना नहीं है। वे तो अपने अंतःकरण में मचलते भक्ति भाव को यूंही स्वांतःसुखाय वाणी-बद्ध किए जाते हैं। अतः तुलसीदास की कविता की प्रेरक शक्ति उनका भक्ति-भाव ही है। परन्तु सभी भक्त कवि नहीं होते। ऐसे ही भक्त हैं जो स्वयं तो उस अनिर्वचनीय आनंदोद्रेक से आप्लावित हैं परन्तु अपने आनंद को दूसरों तक पहुँचाने में असमर्थ हैं या पहुँचाने के प्रति उदासीन हैं। हमारा सौभाग्य है कि तुलसीदास ऐसे अपने ही में मस्त रहने वाले भक्त नहीं थे। उन्होंने जो कुछ स्वयं अनुभव किया उसको जहां तक संभव हुआ वाणी के द्वारा जनता तक भी पहुँचा दिया। मुख्यतः भक्त होने ही के कारण तुलसीदास के लिए भाषा एक गौण वस्तु है। जो व्यक्ति कवि पहले हो, और कुछ पीछे, उसके लिए भाषा का प्राधान्य रहता है। वह

भाषा को परिमार्जित करने, सँवारने तथा विभूषित करने पर अधिक ध्यान देता है। तुलसीदास के लिए तो भाषा एक साधन मात्र है। अपने भाव को अंकित करने के लिए जो शब्द उपयुक्त जान पड़े, उन्हीं को अपनाया और जहां शब्दों को जरा तोड़ने मरोड़ने की आवश्यकता जान पड़ी, वैसा भी कर लिया। उन्हें इस बात की चिंता नहीं थी कि कोई समालोचक इस निरंकुशता के बारे में क्या कहेगा। तो भी तुलसीदास की भाषा बहुत सुन्दर और सुललित है। भाषा पर उन्हें स्वभाव-सिद्ध आधिपत्य है।

तत्कालीन अवधी भाषा को तुलसीदास ने अपनी कविता के लिए अपनाया। उन्होंने संस्कृत शब्दों को बहुधा उनके प्रचलित उच्चारण के अनुरूप ही लिखा। कहीं २ शुद्ध संस्कृत का प्रयोग भी किया।

भाषा-सौष्ठव की ओर अधिक ध्यान न देने पर भी उनकी कविता में भाषा के वे बहुत से गुण स्वयमेव आ गए हैं जिन्हें कविजन बड़े यत्न से लाना चाहते हैं। उनकी कविता में अलंकारों का भी बाहुल्य है परन्तु ये अलंकार स्वतः ही आ गए हैं; बलपूर्वक लाए नहीं गए और इसीलिए ये अलंकार एक शिष्ट तथा सुसंस्कृत महिला के धारण किए हुए भूषणों के समान जान पड़ते हैं न कि उजड्ड और फूहड़ परन्तु लावण्यमयी, आडम्बर-प्रिय और धनाढ्य स्त्री के गहनों के समान।

तुलसीदास की सूक्तियां

तुलसीदास की कविता के सम्बन्ध में निर्णय करना कि अमुक

पद्य सूक्ति है अथवा नहीं, बहुत कठिन है। उन्होंने ऐसे ढंग से मानव-हृदय के भावों को चित्रित किया है कि लगभग प्रत्येक पद्य सूक्ति बन गया है। उनके पद्यों को विद्वान् तथा जन-साधारण दोनों उद्धृत करते बहुधा देखे जाते हैं। यहां पर केवल कुछ ऐसे पद्य दिए जाते हैं।

रामनाम ही इस लोक में सुख-शांति तथा परलोक में आनंद देने वाला है, इस भाव को कितने सुन्दर शब्दों में वर्णन करते हैं—

राम नाम मणि दीप धरु, जीह-देहरी-द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरहु, जो चाहसि उजियार॥

रामनाम के अवलंब के बिना मोक्ष-प्राप्ति असम्भव है, इस भाव को अंकित करते हैं—

राम नाम अवलंब बिन परमारथ की आस।
बरसत बारिद बूंद गहि, चाहत चढ़न अकास॥

तुलसीदास राम के अनन्य भक्त थे। दूसरे देव-देवताओं के प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए भी वे राम के अतिरिक्त किसी के आगे नतमस्तक होने को तैयार नहीं थे। एक बार मथुरा में श्री कृष्णजी के दर्शन करते समय आपने कहा था—

कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बान लेहु हाथ॥

राम हनुमान् के द्वारा सीता के पास अपना प्रेम-संदेश इन

शब्दों में भेजते हैं—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तुहि पाहीं, जानु प्रीति-रस इतनेहि माहीं॥

कवि लोग सुन्दर मुख को चंद्रमा से उपमा देते हैं परन्तु तुलसीदास ने चंद्रमा को मिथिलेश किशोरी के मुख की उपमा के अयोग्य सिद्ध किया है—

जन्म सिंधु पुनिबंधु विष, दीन मलिन सकलंक।
सिय-मुख-समता पाव किमि, चंद वापुरो रंक॥

राम और लक्ष्मण के सौंदर्य को वर्णन करने के लिए अयोग्यता बताई है—

श्याम गौर किमि कहौं बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

उमा ने शिव के लिए घोर तपस्या की। महर्षि नारद ने उमा को फुसलाने के लिए उनके समक्ष विष्णु की बहुत प्रशंसा की और शिव की बहुत निंदा। जब उमा के अपने हृदय की भावना को प्रकट करने पर भी नारद कहते ही गए तो हिमाचल-नंदिनी ने मुंहतोड़ उत्तर दिया—

महादेव अवगुन-भवन, विष्णु सकल गुण-धाम।
जेहि का मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम॥

अनुकूल परिस्थितियों ही में मनुष्य का सम्मान होता है, इस भाव को प्रदर्शित किया है—

तुलसी पावस के समय धरी कोकिला मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहै कौन॥

सत्संगति और कुसंगति के गुण-दोष को कैसे दृष्टांत से प्रकट किया है—

गगन चढ़ै रज पवन प्रसंगा, कीचहु मिलहिं नीच जल संगा।

भाग्य की प्रबलता को वर्णन करते हुए कहा है—

करम कमंडल कर गहे, तुलसी जहँ लग जाय।
सागर, सरिता, कूपजल, बूँद न अधिक समाय॥

अपनी बात सबको सुन्दर जान पड़ती है परन्तु दूसरे की बात को सुन कर प्रसन्न होने वाले थोड़े लोग हैं, इसके सम्बन्ध में कहा है—

निज कवित्व केहि लागि न नीका, सरस होय अथवा अति फीका।
जे पर भणित सुनत हरषाहीं, ते वर पुरुष बहुत जग नाहीं।

प्राकृतिक दृश्यों को देखकर तुलसीदास वन से कैसे आध्यात्मिक उपदेश ग्रहण करते हैं—

बरसहिं जलद भूमि नियराए,
यथा नवहिं बुध विद्या पाए।
बूंद-अघात सहैं गिरि कैसे,
खलके वचन संत सह जैसे।
रस रस सूख सरित-सर-पानी;
ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।

तुलसीदास की कई उक्तियां तो बहुत ही प्रचलित हैं जैसे—

तुलसी इस संसार में सबसे मिलिए धाय।
नहिं जाने किस रूप में नारायण मिल जाय॥
तुलसी इस संसार में भांति २ के लोग।
सब से रल-मिल बैठिए नदी नाव संजोग॥

कवि की वाणी का जनता के जिह्वाग्र पर स्थित हो जाना ही कवि की सफलता है और वह सफलता तुलसीदास को प्राप्त हुई है। इसके उदाहरण संयुक्तप्रांत के ग्रामीण जनों के साथ सम्पर्क में आने पर पग-पग पर मिल सकते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास की प्रतिभा का वर्णन कहां तक किया जाए। भारत को भारत बनाने वाले जो महापुरुष समय २ पर जन्म लेते रहे हैं, जिन महात्माओं ने इस देश की अंतरात्मा का साक्षात्कार किया है, जो ईश्वरीय विभूतियां इस भूखंड पर युग-युग में आविर्भूत होती रही हैं, उनमें एक गोस्वामी तुलसीदास भी थे। कदाचित् जन्म-जन्मांतरों की साधना से विकसित होकर वे भक्त-शिरोमणि के रूप में हमें प्राप्त हुए परन्तु भक्ति के साथ २ वे साहित्यिक प्रतिभा और कला से भी सम्पन्न थे। उनकी सकल रचनाएं तब तक अमर और सर्वप्रिय रहेंगी जब तक भारतीय हृदय में स्पंदन रहेगा, जब तक मानव-हृदय में प्रेम की पिपासा रहेगी और जब तक संसार उच्चादर्शों से प्रेरित रहेगा।

प्रकाशक
लाला खजानचीराम जैन, मैनेजिंग प्रोप्राइटर, मेहरचंद्र लक्ष्मणदास, संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता, गली नन्हेखां, कूचा चेलां, फैज़ बाज़ार, दिल्ली।

इस पुस्तक के सर्वाधिकार प्रकाशकों के अधीन हैं।

मुद्रक
लाला ओम प्रकाश जैन,
नरेन्द्र प्रिंटिंग प्रेस,
कार्ट रोड, शिमला।